* ॐ तत्सत् *

गीता-विज्ञान

(गीता के अनुसार सांसारिक व्यवहार करने का पिता-पुत्र के संवादरूप में संक्षिप्त खुलासा)

लेखक व प्रकाशक-

रामगोपाल मोहता

कराची और बीकानेर

श्रावण, संवत् १९९५
दूसरी बार १०,०००

मूल्य ढ़ाई आना
डाक-व्यय सहित

पुस्तक-विक्रेताओं से दो आने में मिल सकेगी।

ॐ तत्सत्

भूमिका

अत्यन्त प्रसन्नता की बात है कि व्यावहारिक वेदान्त के साहित्य पर लोगों की अधिकाधिक रुचि हो रही है। "गीता का व्यवहार-दर्शन" प्रकाशित होते ही लोगों ने उसे पूर्ण रूप से अपना लिया। साथ-ही-साथ सब तरफ़ से यह माँग आने लगी कि इसका बहुत संक्षिप्त और सरल निचोड़ प्रकाशित होना चाहिये, जो सहज ही सर्वसाधारण के समझ में आ सके और विशेष करके विद्यार्थियों के लिए गीता का वास्तविक रहस्य समझने में पूर्ण रूप से सहायक हो सके। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए यह लघु पुस्तक लिखी गयी है। आशा है कि इससे उक्त उद्देश्य की पर्याप्त सिद्धि होगी।

इस विषय का विशेष अध्ययन करने की इच्छा रखनेवाले सज्जनों को "गीता का व्यवहार-दर्शन" पुस्तक का अध्ययन जरूर करना चाहिये, जो डाक-व्यय मात्र के लिए केवल दस आना भेजकर मँगाई जा सकती है। उसमें गीता प्रतिपादित सभी विषयों का विस्तृत रूप से खुलासा किया गया है। उसकी विवेचनापूर्ण भूमिका लोकनायक माधव श्रीहरि अणे, बी० ए०, बी० एल० सदस्य केन्द्रीय धारासभा ने लिखी है।

बीकानेर
मिति फाल्गुन कृष्णा ७, सं० १९९४ वि०
ता० २१-२-३८ मंगलवार

रामगोपाल मोहता

दूसरे संस्करण की प्रस्तावना

"गीता-विज्ञान" का प्रथम संस्करण, हरद्वार के गत कुम्भ-मेले पर प्रचार करने के लिए, बहुत उतावली में लिखकर छपवाया गया था, इसलिए उसमें अनेक त्रुटिएँ, भूलें और अशुद्धियाँ रह गयीं थीं। फिर भी उस संस्करण की आठ हजार प्रतियाँ थोड़े ही दिनों में समाप्त हो गयीं और पुस्तक की बहुत माँग रही। दूसरा संस्करण छपवाने के लिए सर्व-साधारण का अनुरोध बना रहा। इसलिए उसमें आवश्यकतानुसार परिशोधन करके तथा कुछ विषय बढ़ाकर यह दूसरा संस्करण छपवा-कर प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है यह संस्करण गीता-प्रेमी सज्जनों को पसन्द आयगा।

"गीता-विज्ञान" के छपवाने आदि के प्रबन्ध का सारा भार श्रीयुत् पण्डित सत्यदेव जी विद्यालंकार, सम्पादक 'हिन्दुस्तान' देहली ने अपने ऊपर ले लिया था और उन्होंने बड़े परिश्रम एवं निस्स्वार्थ भाव से यह काम किया; इसलिए उनका मैं कृतज्ञ हूँ। इसी तरह स्वामी विश्वानन्द जी महाराज लुधियानवी ने भी कृपा करके "गीता-विज्ञान" के प्रचार में और दूसरा संस्करण छपवाने में पूर्ण सहयोग दिया, इसलिए उनका भी मैं हृदय से आभारी हूँ।

कराची
श्रावण कृष्णा १४, सं० १९९५ वि०
ता० २६ जुलाई, सन् १९३८, मंगलवार

विनीत—

रामगोपाल मोहता

विषय-सूची

पृष्ठ

॥ ॐ तत्सत् ॥

गीता विज्ञान

पाठ १

क्या गीता मनुष्य को अकर्मण्य बनाती है ?

गोपाल की उमर इस समय करीब १७—१८ साल की है। वह अंग्रेजी पढ़ता है। हाल ही में उसने एफ० ए० का इम्तहान दिया है। पढ़ाई में उसका दूसरा विषय हिन्दी और संस्कृत था। उसके पिता जी उसे सदा गीता पढ़ने के लिये कहा करते थे। वह उसे पढ़ता तो था, परन्तु अपनी पढ़ाई में लगे रहने के कारण उसको अवकाश बहुत कम मिलता था और इसमें उसकी भीतरी रुचि भी कम थी। अब इम्तहान हो जाने के बाद उसे फ़ुरसत होने पर उसके पिता जी ने उससे कहा:—

"बेटा ! अब तो तुम इम्तहान देकर निश्चिन्त हो गये हो; कुछ समय गीता के अध्ययन में भी लगाओ।"

गोपाल—पिता जी ! आप मुझे बार-बार गीता पढ़ने को कहते हैं, परन्तु गीता में ऐसा रक्खा ही क्या है ? ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, कर्म-काण्ड आदि अव्यवहार्य धार्मिक ढकोसलों की खिचड़ी पकी हुई है। उनका न तो आपस में मेल ही खाता है और न उनका कुछ तात्पर्य ही समझ में आता है। वर्तमान समय के तो यह सर्वथा अनुप-

युक्त है। ऐसी पुस्तक पर निरर्थक मगजपची करने के बजाय समयोपयोगी लाभकारी विद्योपार्जन करना ही मैं तो ठीक समझता हूँ।

पिता—बेटा! तुम गीता के अर्थ को अब तक समझ नहीं पाये हो, इसी लिये ऐसी बातें करते हो।

गोपाल—समझ क्यों नहीं पाया हूँ? आपकी कहासुनी के कारण मैंने गीता की कई टीकायें देखीं; परन्तु जो मैंने आप से कहा, उसके सिवाय मैं किसी और नतीजे पर नहीं पहुंचा। क्या आप मुझे गीता का अध्ययन करवा कर साधु बनाना चाहते हैं, जैसे कि राजा गोपीचन्द्र की माता ने उसे बनाया था?

पिता—हाँ, मैं तुम्हें साधु बनाना चाहता हूँ, परन्तु गोपीचन्द्र जैसा नहीं। साधु क्या होता है, क्या तुम समझते हो?

गोपाल—वाह! क्या यह भी कोई समझने की बात है? देखो, ये कितने भिखमंगे हर शहर में घूमते फिरते हैं। यदि उनका ज्यादा जमघट देखना हो, तो थोड़े ही दिनों में हरिद्वार में कुम्भ का मेला होने वाला है; वहाँ लाखों की संख्या में ये निकम्मे लोग इकट्ठे मिल जायँगे। इनके बोझ से हमारा देश दब रहा है और इनके अत्याचारों से अन्य देशों के सामने हमारे देश का सिर, मारे लज्जा के नीचे झुक जाता है।

पिता—क्या तुम मुझे ऐसा बेवकूफ समझते हो कि मैं अपने इकलौते बेटे को घरबार छुड़वा कर भिखमंगा बनाऊँगा?

गोपाल—नहीं, वैसा भिखमंगा बनाने की तो आप की इच्छा नहीं हो सकती, यह तो मैं भी जानता हूँ। परन्तु जिन गेरूए वस्त्रधारी साधुओं को केवल "नारायण हरी" कहने मात्र से आदर सहित खाना मिल जाता है और सेवा-वन्दगी तथा भेंट-पूजा अलग प्राप्त होती रहती है, वैसा साधु बनाने की शायद आपकी इच्छा होगी; अथवा उन महन्तों, मठाधीशों अथवा मण्डलेश्वरों में से किसी का शिष्य बनाने का आपका विचार होगा, जिनके पास बिना परिश्रम के धन-सम्पत्ति

के ढेर के ढेर जमा हो जाते हैं और जिनके राजसी ठाठ बड़े-बड़े रईसों को भी मात करते हैं। उनका चेला होने से मैं भी कभी उन की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो जाऊँगा; शायद ऐसा आपका ख़याल होगा।

पिता—क्या तुमको मालूम है कि गीता का उपदेश देने वाला कौन था?

गोपाल—श्रीकृष्ण।

पिता—क्या वे संन्यासी थे?

गोपाल—नहीं।

पिता—वह उपदेश किसको दिया गया था?

गोपाल—अर्जुन को।

पिता—क्या वह संन्यासी था?

गोपाल—नहीं।

पिता—वह उपदेश किस मौके पर दिया गया था?

गोपाल—महाभारत की लड़ाई आरम्भ होने के समय।

पिता—किस कारण को लेकर वह उपदेश दिया गया था?

गोपाल—अर्जुन अपने स्वजन बान्धवों को आपस में लड़ने के लिये तैयार खड़े हुए देखकर, अपने कुल का नाश होने की आशंका से घबरा गया था और युद्ध करके राज्य प्राप्त करने की अपेक्षा संन्यास लेकर भीख मांग कर खाना अच्छा समझने लगा था, इसलिए वह लड़ने से इन्कार करके शस्त्र छोड़ कर बैठ गया था। इसपर उसको श्रीकृष्ण ने गीता का उपदेश दिया।

पिता—फिर उपदेश सुनने के बाद अर्जुन ने क्या किया?

गोपाल—उसने युद्ध किया और शत्रुओं को पराजित करके अपना राज्य प्राप्त किया।

पिता—बेटा! जब कि शस्त्र छोड़कर संन्यास लेने और भीख से गुज़रान करने को तैयार अर्जुन इस गीता के उपदेश सुनने से युद्ध में

प्रवृत्त हुआ और शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके उसने अपनी पैतृक सम्पत्ति प्राप्त की, तो वही गीता तुम्हें संन्यासी कैसे बना देगी ?

गोपाल—पिताजी ! यह तो आप भी मानेंगे कि गीता में त्याग और वैराग्य पर बहुत जोर दिया गया है।

पिता—अवश्य, परन्तु भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में जिस त्याग और वैराग्य का प्रतिपादन किया है, वह वैसा त्याग और वैराग्य नहीं है, जैसा कि वर्तमान समय में माना जाता है। घर-गृहस्थी, कुटुम्ब-परिवार और अपने कर्त्तव्य-कर्मों को छोड़ कर संन्यास ले लेने और निठल्ले बन जाने का तो गीता में कई स्थानों पर निषेध किया है। (देखो गीता अध्याय ३ श्लोक ४ से ३० तक, अध्याय ५ श्लोक २ और ६, अध्याय ६ श्लोक १-२ और अध्याय १८ श्लोक ७ से १२ तक।)

पाठ २

त्याग-वैराग्य क्या है ?

गोपाल—तो पिता जी ! आप बताइये कि त्याग और वैराग्य का क्या मतलब है ?

पिता—सुनो, बेटा ! अर्जुन के मन में अपने व्यक्तित्व के भाव की प्रबलता उत्पन्न हो गई थी। वह यह समझने लगा था कि मैं दूसरों से अलग एक व्यक्ति हूँ और दूसरे सब पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं। यदि मैं लड़ूँगा, तो ये सब मारे जायेंगे और इनकी मृत्यु का कारण मैं ही होऊँगा। यदि मैं नहीं लड़ूँगा, तो ये जीते रहेंगे और मैं इनकी हत्या के पाप से बचूँगा। अर्जुन की तरह ही दूसरे कार्यकर्त्ताओं के मन में भी इसी तरह पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व का भाव रहता है, जिससे उन्हें अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विषय में मोह उत्पन्न हो जाता है, और उस मोह के कारण वे लोग अनर्थ करके दुःखी होते हैं। इसलिए व्यक्तित्व के इस भाव को त्यागने का भगवान् ने उपदेश दिया है। त्याग और ग्रहण का जोड़ा है। जहां त्याग होता है, वहां ग्रहण, और जहां ग्रहण

होता है, वहां त्याग भी होता है। त्याग और ग्रहण अकेले अकेले नहीं रहते। इसलिए व्यक्तित्व के भाव को त्यागने का अर्थ यह होता है कि अपने को दूसरों से अलग मानने के निश्चय को छोड़कर सब के साथ अपनी एकता के निश्चय को ग्रहण किया जाय, अर्थात् अपने आपको सबके साथ जोड़ दिया जाय। एक छोटे से व्यक्तित्व के तुच्छ भाव को छुड़ाकर अखिल विश्व के साथ एकता के महान् भाव की प्राप्ति करना—यही गीता का त्याग है।

और देखो! वैराग्य का तात्पर्य यह है कि जगत् की अनन्त प्रकार की भिन्नता के जो बनाव हैं, वे सब उपजने और मिटने वाले हैं और वे क्षण-क्षण में बदलते रहते हैं, उनको स्थाई और सच्चे मानकर उनके मोह में उलझे रहने से धोखा और दुःख होता है। अर्जुन को अपने स्वजन बान्धवों के नाशवान् शरीरों का मोह होकर जो घबराहट होगई थी, वैसी ही अन्य सांसारिक कार्यकर्ताओं को भी बहुधा हुआ करती है। उस मोह को दूर करने के लिये जगत् की भिन्नता के बदलते रहने वाले इस झूठे बनाव से वैराग्य करने का गीता में उपदेश दिया गया है। वैराग्य और राग का भी जोड़ा होता है। वैराग्य के लिये राग का होना आवश्यक है। इसलिये भिन्नता के मिथ्या बनाव से वैराग्य करा के एकता के सच्चे भावों से प्रेम करने का भगवान् श्रीकृष्ण का उपदेश है। यह है गीता का वैराग्य।

गोपाल—पिता जी! त्याग और वैराग्य का यह अर्थ तो आपने विचित्र ही बताया। परन्तु गीता में तो अहंकार-त्याग, आसक्ति-त्याग संग और ममत्व-त्याग, कर्म-फल-त्याग, आशा-त्याग और कामना-त्याग आदि कई प्रकार के त्याग का जो उपदेश दिया गया है, उस सब की व्यवस्था आप क्या करते हैं?

पिता—मैं इन की व्यवस्था क्या करूँगा? वह तो भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं ही कर रक्खी है। सुनो—

मनुष्य जो भी कुछ करता है, वह दूसरों से पृथक् होकर अकेला

नहीं कर सकता। यहां तक कि दूसरों के सहयोग बिना वह हिल भी नहीं सकता। यदि किसी कार्य में किसी व्यक्ति के सहयोग की आवश्यकता न भी हो, तो भी पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश-रूप महाभूतों और सूक्ष्म शक्तियों की सहायता के बिना वह कुछ भी नहीं कर सकता और उन पर उसका कुछ भी अधिकार नहीं है। इसलिये यह अहंकार कि "अमुक काम मैं ही करता हूँ और वह मेरे ही किये से होता है" मिथ्या है। इस पृथक् व्यक्तित्व के मिथ्या अहंकार को छुड़वा कर भगवान् ने सबके सहयोग को अनुभव करने का उपदेश दिया है।

किसी विशेष व्यक्ति अथवा विशेष पदार्थ वा विशेष कार्यों में मनुष्य इतना लवलीन अथवा आसक्त हो जाय कि जिससे अपने वास्तविक कर्तव्य पालन करने में बाधा पड़े, तो उससे मनुष्य की अपनी हानि होने के अतिरिक्त समाज और जगत् की व्यवस्था बिगड़ती है। इसलिये भगवान् ने विशेष व्यक्तियों, विशेष पदार्थों और विशेष कार्यों ही में संग अथवा आसक्ति छुड़वाकर सब के साथ प्रेम रखने का उपदेश दिया है। मनुष्य जब किन्हीं विशेष व्यक्तियों, विशेष पदार्थों वा विशेष कार्यों ही को अपना मान कर उनमें ममता कर लेता है, तो शेष सब व्यक्तियों, पदार्थों वा कार्यों से उसका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और उनसे द्वेष भी हो जाता है—इस सब का परिणाम बड़ा दुःखदाई होता है। इसलिये भगवान् ने विशेष पदार्थों, व्यक्तियों और कार्यों को अपनाने का ममत्व छुड़ाकर सबको अपनाने का उपदेश दिया है।

जब कि मनुष्य के सारे कर्म दूसरों की सहायता और सहयोग से सम्पादित होते हैं, तब उनके फल में भी दूसरों का साझा रहना जरूरी है। इसलिये कर्म के फल-स्वरूप जो कुछ पदार्थ प्राप्त हों, उन पर अकेले कर्म करने वाले का ही अधिकार नहीं होना चाहिये। यदि कोई अकेला अधिकार जमाता है, तो यह उसकी कृतघ्नता है और वह चोरी करने का अपराधी होता है। इसलिए भगवान् का उपदेश है कि कर्मों के फल पर दूसरों से पृथक् किसी अकेले व्यक्ति का ही अधिकार नहीं

रहना चाहिये, किन्तु सब के कर्मों का फल सब के लिए होना चाहिये, जिसमें स्वयं कर्म करने वाला भी शामिल है अर्थात् प्रत्येक कर्म करने वाले को उसका फल अपने-अपने कार्यक्षेत्र में आनेवाले दूसरे व्यक्तियों को बांट कर स्वय भोगना चाहिए—यह कर्म-फल-त्याग है।

किसी भी काम में मनुष्य की प्रवृत्ति कोई न कोई उद्देश्य अथवा कामना लेकर ही होती है। निरर्थक चेष्टा कोई नहीं करता परन्तु दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना ही से जो कार्य किये जाते हैं, उनमें दूसरों के स्वार्थों की अवहेलना करने और उन्हें कुचलने का भाव रहता है; यह बहुत बड़े अनर्थ का हेतु होता है। इसी से समाज और जगत् में कलह होकर सब को दुःख होता है। भगवान् इस पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना का त्याग करवा कर सबके हित की कामना से अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करने का सब को उपदेश देते हैं। यही गीता का निष्काम कर्म है।

यह है गीता का त्याग और वैराग्य! सारांश यह कि गीता किसी को घर-गृहस्थी छोड़कर वन में जाने अथवा भीख मांगकर खाने और संसार पर बोझ होने का उपदेश नहीं देती। बल्कि ऐसे संन्यास का साफ़ साफ़ निषेध करती है। गीता मनुष्य को महाकर्ता और साथ ही साथ महा-अकर्ता भी बनाती है, और महा-त्याग के साथ ही साथ अखिल विश्व का स्वामित्व भी देती है। मैं तुम को ऐसा ही साधु बनाना चाहता हूँ।

पाठ ३

बुद्धि-योग

गोपाल—आप की व्याख्या के अनुसार त्याग और वैराग्य का स्वरूप ही और का और होगया; परन्तु आप जो सब के लिए अपने कर्तव्य-कर्म करने को कहते हैं, वे कर्तव्य-कर्म यज्ञादिक धार्मिक-कर्म-

काण्ड ही हैं, जिनका गीता के तीसरे अध्याय में उल्लेख किया गया है, अथवा कुछ और ?

पिता—देखो, बेटा ! गीता में भगवान् ने सर्वत्र बुद्धि से काम लेने का उपदेश दिया है। दूसरे अध्याय के ११वें श्लोक से लेकर १८वें अध्याय के ६३वें श्लोक तक बुद्धि का उपयोग करके विचार-पूर्वक सब काम करने को भगवान् कहते हैं। साम्प्रदायिक धर्म-ग्रंथों की तरह गीता यह नहीं कहती कि अपनी बुद्धि से कुछ भी काम न लेकर हम जैसे चलावें वैसे ही पशुओं की तरह चलते जाओ। गीता मनुष्य जैसे बुद्धिमान् प्राणी को पशु बनने को नहीं कहती, किन्तु स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करके काम करने को कहती है। अब तुम जरा विचारो तो सही कि कौरवों-पाँडवों की दोनों सेनायें लड़ाई करने को तैयार खड़ी हैं और शस्त्र चलने में कुछ भी देर नहीं है—उस समय भगवान् अर्जुन को क्या यह उपदेश दे सकते थे कि शुचि-श्रुवा लेकर हवनकुण्ड में घृत और शाकल्य की आहुतियां देते हुए "स्वाहा-स्वाहा" करने लग जाओ !

पाठ ४

यज्ञ का स्वरूप और वर्ण-व्यवस्था

गोपाल—पिता जी ! गीता में तो यह स्पष्ट कहा है कि ब्रह्मा ने आदि काल में यज्ञ के साथ ही साथ सृष्टि रची, इसलिये सब को यज्ञ करना चाहिये।

पिता—हां, यह ठीक है। परन्तु वह यज्ञ क्या है, जरा इसको भी तो समझो। वर्तमान में लोग आम तौर से जो घी और मेवा आदि कीमती पौष्टिक पदार्थों को अग्नि में जला देने का हवन करके भूखे गरीब लोगों को उससे वंचित रखते हैं। उसी को यज्ञ कहते हैं; परन्तु गीता में इसका कहीं भी विधान नहीं है। इस तरह के कर्मकाण्ड की तो गीता में साफ़ २ निन्दा की गई है (देखो गीता अध्याय २ श्लोक ४२ से ४६

तक, अध्याय ८ श्लोक २८, अध्याय ६ श्लोक २०-२१, अध्याय ११ श्लोक ४८ और ५३)।

यज्ञ का वास्तविक और व्यापक अर्थ भगवान् श्री कृष्ण ने स्वयं ही कह दिया है कि "यज्ञः कर्मसमुद्भवः" । इसका तात्पर्य यह है कि यज्ञ सबके अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म यथावत् करने से होता है । फिर चौथे अध्याय में भी कहा है कि "सब यज्ञों को कर्म से उत्पन्न हुआ जान" । इससे स्पष्ट है कि अपने-अपने शरीर की योग्यता के कर्तव्य-कर्मों को करना ही यज्ञ है । चौथे अध्याय में भगवान् ने कई तरह के यज्ञों का उल्लेख करके अन्त में कहा है कि "ज्ञान-यज्ञ सबसे श्रेष्ठ है" अर्थात् सबकी एकता के ज्ञान सहित अपनी-अपनी योग्यता के व्यवसाय, संसार की सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए करना ही सच्चा यज्ञ है । यज्ञ की इस व्याख्या के अनुसार प्रत्येक मनुष्य (स्त्री-पुरुष) जो-जो व्यवसाय करते हैं, वे व्यवसाय, उनके साधन अथवा औजार, जिनके लिये वे व्यवसाय किए जाते हैं वे, और स्वयं व्यवसाय करने वाला, सब एक ही आत्मा अथवा ब्रह्म के अनेक रूप समझे जाते हैं (देखो गीता अध्याय ४ श्लोक २४)।

समाज की सुव्यवस्था के लिए चार प्रकार के कार्य-विभाग की जो व्यवस्था की गई है, यानी:—(१) शिक्षक वर्ग, जिनको हमारे यहां ब्राह्मण कहते हैं; (२) रक्षक वर्ग, जिनको हमारे यहां क्षत्रिय कहते हैं; (३) वणिक वर्ग, जिनको हमारे यहां वैश्य कहते हैं; और (४) श्रमी वर्ग, जिनको हमारे यहां शूद्र कहते हैं; तथा इनमें से प्रत्येक के अन्तर्गत जो जो नाना प्रकार के छोटे-बड़े कार्य करने के उपविभाग हैं, उन सबके कर्त्तव्य-कर्म यज्ञ हैं । जिस प्रकार शिक्षक वर्ग के अन्तर्गत एक अध्यापन करने वाले ब्राह्मण का शिक्षा सम्बन्धी कार्य यज्ञ है, उसी प्रकार श्रमी-वर्ग के अन्तर्गत मैला साफ करने वाले मेहतर का कार्य भी यज्ञ है । स्त्रियों का घर गृहस्थी का काम-काज, सन्तानों का पालन-पोषण और अपने पुरुषों के व्यवसायों

में सहायक होना भी यज्ञ ही है। शिक्षक—ब्राह्मण और उसके अध्यापन के कर्म, और उसके अध्यापन के सामान तथा उसके शिष्यों में जो आत्मा अथवा परमात्मा व्यापक है, वही आत्मा अथवा परमात्मा मेहतर व उसके मैला साफ करने के कर्म, उसके झाड़ू तथा जिनका मैला वह साफ करता है, उन सब में व्यापक है। इसी तरह स्त्री, उसके घर-गृहस्थी आदि के काम-काज, उन कामों के सब साधन, घर के लोग एवं बाल-बच्चे आदि भी आत्मा अथवा परमात्मा रूप ही हैं। यह सिद्धान्त सभी व्यवसायों पर लागू है, अर्थात् सब में एकता है। इस निश्चय से अपने अपने काम करना ही सच्चा यज्ञ है।

गोपाल—पिताजी! इसका मतलब तो यह हुआ कि आप शिक्षा देने वाले ब्राह्मणों के, रक्षा करने वाले क्षत्रियों के, व्यापार करनेवाले वैश्यों के और कारीगरी तथा मजदूरी करने वाले शूद्रों (लोहार, बढ़ई, जुलाहे, धोबी, दर्जी, चमार, मेहतर आदि) के कामों को तथा स्त्रियों के कर्त्तव्यों को एक ही सा महत्त्व देते हैं।

पिता—मैं अपने मनसे इनको एकसा महत्त्व नहीं देता। भगवान् स्वयं कहते हैं कि अपना-अपना कर्त्तव्य-कर्म सब का श्रेष्ठ होता है (देखो गीता अध्याय ३ श्लोक ३५ और अध्याय १८ श्लोक ४७)।

समाज की सुव्यवस्था के लिये सबके कर्त्तव्य-कर्मों की एक समान आवश्यकता है। यदि एक भी व्यवसायी अपना कर्त्तव्य-कर्म यथावत् पालन न करे, तो सब का काम अटक जाय। जिस तरह किसी कारखाने के सभी चक्के और पुर्जे जब अपना-अपना काम ठीक ठीक करते हैं, तभी वह कारखाना अच्छी तरह चल सकता है, इसी प्रकार शरीर का प्रत्येक अंग अपना अपना काम बराबर करता है, तभी शरीर का व्यवहार ठीक ठीक चल सकता है। ठीक इसी प्रकार जगत् में भी सभी लोग अपने अपने कर्तव्य-कर्म यथावत् करके आपस में एक दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करें, तभी संसार का व्यवहार ठीक ठीक चल सकता है। इसीलिये इसको यज्ञ-चक्र कहा है (देखो गीता अध्याय

३ श्लोक १६)। पहिये की धुरी,आरे, नेमी आदि सभी पुर्जों की एक समान आवश्यकता होती है। यद्यपि हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों से किये जाने वाले स्थूल कर्मों की अपेक्षा बुद्धि से विचार द्वारा किये जाने वाले सूक्ष्म कर्मों की योग्यता उच्च कोटि की होती है, इसी लिये विचार सम्बन्धी कर्म करने वालों का पद ऊँचा रखा गया है, तथा स्थूल कर्म करने वालों पर विचारक लोगों का शासन होता है; परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि स्थूल कर्म करने वालों को अनावश्यक एवं तुच्छ समझकर पद-दलित रक्खा जाय और उनका तिरस्कार अथवा अवहेलना की जाय।

गोपाल—पिताजी ! इससे तो यह सिद्ध हुआ कि गीता ने जाति की अपेक्षा कर्म को ही प्रधान माना है।

पिता—हाँ, गोपाल ! वहां जाति-पाँति का कोई जिक्र नहीं है। वहाँ प्रधानता कार्य की है और कार्य-विभाग के लिये ही वर्ण-व्यवस्था का विधान किया गया है। यह संसार आत्मा अथवा परमात्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव है। इन गुणों के नाम सत्व, रज और तम हैं। सत्वगुण ज्ञान स्वरूप है, रजोगुण क्रिया स्वरूप है और तमोगुण स्थूलता अथवा जड़ता स्वरूप है। इन तीनों गुणों की कमी-बेशी के आधार पर कार्य करने के चार प्रधान विभाग किए गये हैं। जिन में सत्वगुण की प्रधानता हो, उनके लिये शिक्षा सम्बन्धी; रजोगुण की प्रधानता वालों के लिये रक्षा सम्बन्धी; रज-तम गुणों की प्रधानता वालों के लिये खेती और व्यापार सम्बन्धी; तथा तमोगुण की प्रधानता वालों के लिये शारीरिक श्रम सम्बन्धी कार्य नियत किये गए हैं।

ये चार प्रकार के कार्य-विभाग केवल हिन्दुओं में ही नहीं हैं, बल्कि सभी सभ्य समाजोंमें भिन्न-भिन्न रूपोंमें पाये जाते हैं। वर्तमान में हिन्दुओं ने इस कार्य-विभाग की व्यवस्था का दुरुपयोग करके भिन्न भिन्न कार्य करने वाले संघों को जाति का रूप दे दिया और एक दूसरे को सर्वथा पृथक् समझने लगे। इस क़िलेबन्दी का यह दुष्परिणाम हुआ कि यह जाति दूसरे लोगों की प्रतिद्वंदिता में ठहरने में भी असमर्थ

हो गई ! वास्तव में इस कार्य-विभाग की वर्ण-व्यवस्था के जोड़ की दूसरी कोई हितकर और स्थाई व्यवस्था संसार में आज तक नहीं बनी है ।

गोपाल—पिताजी ! गीता के तीसरे अध्याय के १४वें श्लोक में कहा है कि अन्न से सब भूत यानी सृष्टि होती है; अन्न पर्जन्य यानी वर्षा से होता है; और वर्षा यज्ञ से होती है। आप के कहे हुए यज्ञ से वर्षा आदि कैसे होंगे ?

पिता—ठीक है। अन्न का व्यापक अर्थ प्राणी-मात्र के उपयोग में आने वाले सभी भोग्य पदार्थ हैं; और पर्जन्य का व्यापक अर्थ सारे भोग्य पदार्थ उत्पन्न करने वाली समष्टि शक्ति है। तात्पर्य यह कि सब के अपने अपने कर्त्तव्य कर्म करने से भोग्य पदार्थ उत्पन्न करने वाली समष्टि-शक्ति होती है; और भोग्य पदार्थों से सृष्टि होती है। संसार में सभी प्राणी और पदार्थ एक दूसरे के अन्न अर्थात् भोग्य हैं।

यदि वर्षा का होना हवन पर ही निर्भर होता तो अधिकतर देश ऐसे हैं जहाँ हवन नहीं होते, वहां वर्षा का सर्वथा अभाव रहता और अन्न उत्पन्न न होने से सृष्टि भी नहीं होती; परन्तु वैसी बात नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि लोग अपने अपने कर्त्तव्य कर्म नहीं करें तो वर्षा होने पर भी अन्न उत्पन्न नहीं हो सकता। इसके विपरीत जिन देशों में वर्षा नहीं होती, वहां कर्त्तव्य-परायण लोग कृत्रिम उपायों से भी अन्न उत्पन्न कर लेते हैं।

पाठ ५

देवता क्या हैं ?

गोपाल—तीसरे अध्याय के दसवें और ग्यारहवें श्लोकों में तो यज्ञ से देवताओं को प्रसन्न करने को कहा है। यह तो बताइये कि आपके बताये हुए यज्ञ से देवता किस तरह प्रसन्न होंगे ?

पिता—पहले यह समझ लो कि देवता क्या हैं ? प्राणियों के शरीर में देखने, सुनने, सूंघने, स्पर्श करने, खाने-पीने, चलने-फिरने, बोलने, विचार करने, संकल्प करने और काम करने आदि की जो-जो शक्तियां होती हैं, उनमें से प्रत्येक का समष्टिभाव अर्थात् सम्मिलित भाव देवता है। जो शक्तियां छोटे-छोटे रूपों में प्रत्येक शरीर में काम करती हैं, वही शक्तियां वृहद् रूपों में जगत में काम करती हैं और उनको देवता कहते हैं। प्रत्येक शरीर की छोटी-छोटी (व्यष्टि) शक्तियों के काम के योग से जगत् की समष्टि शक्तियां पूरित होती हैं, यही देवताओं को प्रसन्न करना है। प्रत्येक व्यक्ति की व्यष्टि शक्तियों को समष्टि शक्तियों में जोड़ देना ही देवताओं के निमित्त यज्ञ होता है। व्यक्तित्व के अहङ्कार रूपी पशु को सब की एकता स्वरूप ब्रह्माग्नि में होम देना—यह ज्ञान-यज्ञ है।

गोपाल—तो फिर गीता में जिन देवताओं के अर्चन व पूजन आदि का जिक्र आया है, वे कौन हैं ?

पिता—देखो, गोपाल ! जिन लोगों की बुद्धि धन, मान, स्त्री, पुत्र, विषय-भोग और स्वर्गादि सुखों की कामना से विक्षिप्त रहती है, वे लोग उन कामनाओं की पूर्ति के लिए समय-समय पर अनेक अदृष्ट शक्तियों की कल्पना करके उनको देवता मानकर और उन देवताओं को सब के आत्मा-परमात्मा से अलग समझकर अपनी रुचि के अनुसार उनका पूजन करते हैं और जब अपनी दृढ़ भावना के प्रसाद से उनकी कामनाओं की पूर्ति होती है, तब वे उन कल्पित देवताओं को कामनाओं की पूर्ति करने वाला मानते हैं। परन्तु गीता में ऐसे देव-उपासकों की निन्दा की गई है (देखो गीता अध्याय ७ श्लोक २० से २३ तक)।

गोपाल—पिता जी ! गीता के सोलहवें अध्याय के अन्त में शास्त्र-प्रमाण से कार्य-अकार्य का निर्णय करने का भी तो भगवान् ही ने

उपदेश दिया है, और शास्त्र विधि को छोड़कर मनमानी करने वालों की निन्दा भी की है। शास्त्रों में अलग २ देवताओं के वर्णन आते हैं।

पिता—गीता की दृष्टि में प्रमाणिक शास्त्र कौन से हैं—इसका निर्णय पहिले ही पन्द्रहवें अध्याय के अन्तिम श्लोक में भगवान् ने कर दिया है, जहां पर उस अध्याय के आरम्भ में जगत् की भिन्नता के बनावों को अश्वत्थ वृक्ष की उपमा से झूठा बताकर सब भूत प्राणियों तथा जीवात्मा-परमात्मा की एकता का प्रतिपादन करके अन्त में कहा है कि यह गुह्यतम "शास्त्र" मैंने तुम से कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि वेद का ज्ञान-काण्ड, उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र आदि अभेद प्रतिपादक शास्त्र ही भगवान् को मान्य हैं। तेरहवें अध्याय के चौथे श्लोक में भी यही कहा है।

पाठ ६

हिन्दू-धर्म का मूल आधार क्या है ?

गोपाल—तो, पिताजी ! गीता के अनुसार हिन्दू धर्म अथवा आर्य-संस्कृति का मूल आधार क्या है ?

पिता—एक आत्मा अथवा परमात्मा ही सत्य है और जगत् में जो अनन्त प्रकार की भिन्नता है, वह उस एक ही के अनेक कल्पित नाम और रूपों का बनाव है; इसलिए सब की एकता सच्ची और अनेकता झूठी है—यह आर्य-संस्कृति का मूल सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के आधार पर जो देश, काल और व्यक्तियों की परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर मनुष्यों के पृथक् पृथक् व्यवहारों की व्यवस्थाएं होती हैं, वह आर्य संस्कृति का कर्म-काण्ड है। दूसरे शब्दों में अनेकों में एक और एक में अनेक का सिद्धान्त आर्य संस्कृति का जीवात्मा है और इस सिद्धान्त के आधार पर सांसारिक व्यवहार करना इसका शरीर है। शरीर समय २ पर बदलते रहते हैं, परन्तु जीवात्मा सदा एक बना रहता है। इसी तरह कर्मकाण्ड अथवा व्यवहार देश,

काल और मनुष्यों की परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं; परन्तु मूल सिद्धान्त कभी नहीं बदलता।

गोपाल—तो क्या धर्म भी सदा एकसा नहीं रहता ? क्या वह भी बदलता रहता है ?

पिता—यदि धर्म से मतलब सब की एकता के सिद्धान्त से है, तब तो वह सदा बना रहता है, कभी नहीं बदलता। परन्तु यदि धर्म से मतलब कर्मकाण्ड, रीति-रस्म, रहन-सहन आदि से है, तो ये अवश्य ही बदलते रहते हैं, क्योंकि वे सब जगत् की भिन्नता के बनावों के अन्तर्गत ही होते हैं और व्यक्ति-भेद, देश-भेद, काल-भेद के अनुसार वे भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं।

गोपाल—क्या सत्य, अहिंसा, क्षमा, अस्तेय, शम, दम आदि, मनुष्य मात्र के लिये जो साधारण धर्म कहे गये हैं, वे भी अटल नहीं हैं ?

पिता—इनके लिए भी अपवाद हैं। कई परिस्थितियों में इनके विरुद्ध आचरण करना भी धर्म माना जाता है।

गोपाल—तो क्या नाना मजहब, नाना पन्थ, नाना मत, नाना सम्प्रदाय फिजूल ही हैं ? क्या इन के चलाने वाले बेसमझ थे ?

पिता—नहीं, बेटा ! ये फ़िजूल क्यों हैं। अपने अपने स्थान में सभी उपयुक्त होते हैं और सभी की आवश्यकता होती है। संसार में निरर्थक वस्तु कोई भी नहीं है। जिस समय जिस देश की जनता की जैसी योग्यता होती है, उसीके अनुसार बुद्धिमान् लोग उनके आचरणों की व्यवस्थायें बना दिया करते हैं और वे व्यवस्थाएँ मजहब, पन्थ, सम्प्रदाय और मत आदि का रूप धारण कर लिया करती हैं। जिन लोगों की बुद्धि का विकास बहुत कम होता है, उनके लिए निम्न कोटि की व्यवस्थाएँ उपयुक्त होती हैं; और जिनकी बुद्धि का विकास अधिक होता है, उनके लिए उच्च कोटि की व्यवस्थाएँ उपयुक्त होती हैं। जिस तरह एक बालक के लिए वर्णमाला या बारहखड़ी आदि प्रारम्भिक शिक्षा की

आवश्यकता होती है, और एक पढ़े-लिखे मनुष्य के लिए उच्च कोटि के दर्शन-शास्त्र उपयुक्त होते हैं, वही दशा मनुष्य समाजके धार्मिक व्यवस्थाओं की है। मध्यकाल में इस देश की साधारण जनता की मानसिक-दशा बहुत गिर गई थी, इसलिए यहाँ बहुत से पन्थ और सम्प्रदायों की भरमार होगई। अब ज़माना पलट गया है। उन मज़हबों, पन्थों और सम्प्रदायों की उपयुक्तता कम होने लगी है और दिन प्रति-दिन कम होती जायगी। शिक्षा का प्रचार अधिकाधिक हो रहा है, जिससे लोगों की विचार शक्ति जागृत हो रही है। तुम्हारे जैसे नव-शिक्षित लोग पन्थों और सम्प्रदायों के बन्धनों में नहीं रह सकते। इसलिए आर्य-संस्कृति का जो सच्चा स्वरूप है, उसे समझाना अत्यन्त आवश्यक है।

गोपाल—नाना पन्थों, नाना मज़हबों और नाना सम्प्रदायों के विषय में जो आपने कहा, वह तो मेरी समझ में आगया; परन्तु इस एकता के सिद्धान्त को नहीं मानने वाले जो दर्शनशास्त्र हैं, क्या वे झूठे हैं?

पिता—नहीं, वे झूठे नहीं हैं। वे सभी एकता के सिद्धान्त के पोषक हैं। गीता किसी भी दर्शन का तिरस्कार नहीं करती, क्योंकि जहाँ सर्वत्र एकता का प्रतिपादन है, वहाँ उससे अलग कोई रह नहीं जाता। गीता में नास्तिक चार्वाक दर्शन को भी स्थान दिया गया है। (देखो गीता अध्याय २ श्लोक २६–२७)।

चार्वाक, जैन, बौद्ध, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य आदि सभी दर्शन मनुष्य को अविचार की दलदल से निकाल कर विचारों में प्रयुक्त करते हैं और जगत् की अनन्त प्रकार की भिन्नता को समेट कर एकता की तरफ लाने में सभी सहायक हैं। योग ने सब की एकता करके प्रकृति, जीव और ईश्वर तीन शेष रक्खे। सांख्य ने प्रकृति और पुरुष दो ही रक्खे और वेदान्त ने दोनों का एकीकरण करके पूर्ण एकता कर दी। परन्तु सभी दर्शनों का लक्ष्य एकता की तरफ जाने का है, इसके लिए सभी ने कुछ न कुछ काम किया है। इसलिए वे सभी एकता के सिद्धान्त के सहायक हैं, विरोधी नहीं। गीता ने सांख्य के

सिद्धान्त का तो इतना आदर किया है कि प्रकृति और पुरुष के विषय की सांख्य की सभी बातें मानी हैं। केवल प्रकृति और पुरुष की एकता की जो त्रुटि सांख्य में थी, उसकी पूर्ति कर दी (देखो गीता का तेरहवाँ अध्याय।)

पाठ ७

गीता का प्रधान विषय

गोपाल—अच्छा, पिता जी! अब यह बताइए कि गीता मनुष्य के लिए किस विषय में विशेष उपयोगी है, जिससे आप बार-बार इसका अध्ययन करने के लिए मुझ पर जोर डालते हैं।

पिता—बेटा! यह तो तुम्हें मालूम ही है कि कौरवों ने अन्याय-पूर्वक पाण्डवों का राज-पाट छीन लिया था, जिसे लेने के लिए दोनों के बीच लड़ाई ठनी थी, और उस लड़ाई के आरम्भ होने के समय दोनों तरफ़ की फौजों में अपने कुटुम्बियों और स्वजन बान्धवों को मरने-मारने के लिए तैयार देखकर कुल-संहार का दृश्य अर्जुन के नेत्रों के सामने खड़ा हो गया था, जिससे वह घबड़ा गया और स्वजन बान्धवों के मारे जाने का मोह, उनकी हत्या के पाप से नरक में पड़ने का भय, कुल का नाश हो जाने से धर्म की हानि, स्त्रियों के बिगड़ने और वर्ण-संकर-सन्तान उत्पन्न होने की आशङ्का आदि अनेक प्रकार के विचारों से उसका मन डांवाडोल हो गया था और युद्ध में इतने कुटुम्बियों की हत्या करके राज्य प्राप्त करने की अपेक्षा उसे संन्यास लेकर भीख से जीवन निर्वाह करना श्रेष्ठ प्रतीत होने लगा था। पर, दूसरी तरफ़ अपने स्वाभाविक क्षात्र-धर्म के अनुसार युद्ध से पीछे हटना भी उसके लिये कठिन हो रहा था। ऐसी दशा में उसे क्या करना चाहिये, इसका वह कुछ भी निर्णय नहीं कर सका। तब वह अत्यन्त दीन और दुःखी हो, भगवान् श्रीकृष्ण की शरण होकर पूछने लगा कि "इस विकट परिस्थिति में मुझे क्या करना चाहिये, सो आप कृपा करके मुझे बता-

इये। मेरी अक़ल कुछ भी काम नहीं देती।" तब भगवान् ने सब से पहिले, मरने-मारने के विषय में जो उसे मोह हो रहा था, उसे दूर करने के लिये आत्म-ज्ञान का उपदेश दिया, जिस में यह बताया कि सब शरीरों के अन्दर "मैं" रूप से रहने वाला आत्मा न कभी जन्मता है और न कभी मरता है, किन्तु वह सदा एक समान विद्यमान रहता है; और ये सब शरीर नाशवान् हैं, इसलिए सदा रह नहीं सकते। दोनों सेनाओं में ये जितने लड़ने वाले उपस्थित हैं, उन्होंने अनन्त शरीर धारण किये हैं और आगे भी करते रहेंगे। शरीर के मरने से जीवात्मा नहीं मरता। जिस तरह मनुष्य पुराने कपड़े बदल कर नये कपड़े पहिनता है, उसी तरह जीवात्मा एक शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर धारण करता है। इसलिये मरने-मारने का कोई शोक और मोह नहीं करना चाहिये। आत्मा एक है और शरीर अनेक हैं। यह संसार उस एक ही आत्मा के अनेक रूपों का खेल है। इस एकता के निश्चयपूर्वक इस खेल में जिसके ज़िम्मे जो कार्य हो, उसे वह अच्छी तरह पूरा करना चाहिये। इसमें जो सुख-दुःख, सफलता-असफलता, हानि-लाभ, पाप-पुण्य, मान-अपमान आदि प्रतीत होते हैं, वे सब आने-जाने वाले हैं, अर्थात् स्थिर नहीं रहते और वे परस्पर में जोड़े के रूप में होते हैं। जहां सुख है, वहाँ दुःख भी है। जहां हानि है, वहां लाभ भी है। जहां मान है, वहां अपमान भी है। जहां पुण्य है, वहां पाप भी है। वास्तव में ये सब एक ही वस्तु के अनेक रूप हैं, ऐसा समझ कर इनमें सम रहना चाहिये। इस तरह सब की एकता के साम्य-भाव से सब को अपने २ शरीर की योग्यता के व्यवहार, इस संसार रूपी खेल को अच्छी तरह चलाने के लिये करते रहना चाहिये। ऐसा करने ही से मनुष्य सब प्रकार की उन्नति करता हुआ सच्ची सुख-शान्ति को प्राप्त होता है। जो लोग भिन्नता के भावों को सच्चा मान कर व्यक्तित्व के मोह में फँसते हैं और दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि ही लगे रहते हैं तथा दूसरों से पृथक् अपने लिये लाभ उठाने, मान

प्राप्त करने, पुण्य उपार्जन करने तथा सुखी होने की कामना से दूसरों के स्वार्थों की अवहेलना करते हैं, उनका पतन होता है। यही सब की एकता के ज्ञानयुक्त साम्य-भाव से संसार के व्यवहार करने का उपदेश भगवान् ने अर्जुन को निमित्त करके सारे संसार को दिया है। अर्जुन को अपने कर्तव्य-कर्म करने में जिस तरह मोह हुआ था, उसी तरह का मोह अन्य कार्यकर्ताओं को भी अपने अपने कार्य-क्षेत्र में समय समय पर अपनी अपनी स्थिति के अनुसार हुआ करता है। गीता उन सबको कर्तव्याकर्तव्य का सच्चा मार्ग दिखाती है।

पाठ ८

योगाभ्यास

गोपाल—पिता जी! यदि सब की एकता के निश्चयपूर्वक साम्य-भाव से अपनी अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म करना ही गीता का विषय है, तो फिर छठे अध्याय में हठयोग का उपदेश क्यों दिया गया है?

पिता—बेटा! छठे अध्याय में हठयोग का उपदेश नहीं है, क्योंकि हठयोग में जो नेती, धोती, न्योली-कर्म, आसन, मुद्रायें, षट्चक्र-छेदन आदि क्रियाएँ होती हैं, उनका वहाँ कोई ज़िक्र भी नहीं है। जगत् की भिन्नता के भावों में भटकते हुए मन को एकत्व भाव में स्थिर करने के लिए किसी स्वच्छ स्थान पर स्थिरता से बैठकर ध्यान करने का एक साधन-मात्र बताया गया है, ताकि जिनका मन विचार से स्थिर न हो सके, वे इस अभ्यास से उसे एकाग्र कर सकें; परन्तु सदा इसी अभ्यास में लगे रहने का विधान नहीं है। छठे अध्याय के आरम्भ में ही कह दिया गया है कि कर्म-फल में आसक्ति न रखकर अपने कर्तव्य-कर्म करनेवाला ही सच्चा योगी और संन्यासी है। इससे स्पष्ट है कि अर्जुन को योगाभ्यास में लगने का उपदेश नहीं है, किन्तु केवल साधन-रूप से योगाभ्यास का उल्लेख किया गया है।

गोपाल—पिता जी! गीता में समाधि का भी तो वर्णन है।

पिता—गीता में वर्णन की हुई समाधि हठयोग की समाधि नहीं है, किन्तु सब की एकता के साम्य-भाव में बुद्धि को स्थिर करने को समाधि कहा है। हठयोग की समाधि में शरीर की कोई क्रिया नहीं हो सकती। ऐसी समाधि का उपदेश उस समय बन ही नहीं सकता था।

पाठ ९

योग शब्द की व्याख्या

गोपाल—पिता जी! चौथे अध्याय के आरम्भ में श्रीकृष्ण ने कहा है कि यह "योग" मैंने सूर्य से कहा; सूर्य ने मनु से कहा और मनु ने इक्ष्वाकु से कहा। इससे विदित होता है कि योग ही का उपदेश दिया गया है।

पिता—योग शब्द का साधारण अर्थ संयोग, जोड़, एकता, मेल अथवा मिलना आदि है; और गीता में भगवान् ने दूसरे अध्याय के ४८ वें श्लोक में इसका विशेष अर्थ "समत्वं योग उच्यते" किया है अर्थात् "साम्य-भाव योग" है, और अर्जुन ने भी इस उपदेश को समत्व-योग ही समझा है (देखो गीता अध्याय ६ श्लोक ३३)। इस से स्पष्ट है कि सब की एकता के साम्य-भाव-युक्त आचरण करना ही "योग" शब्द का अभिप्राय है।

पाठ १०

सूर्य से समत्व-योग का प्रचार कैसे हुआ?

गोपाल—ठीक है, परन्तु यह बात मेरी समझ में नहीं आई कि सूर्य आकाश में स्थित एक तेजोमय पिण्ड है, उसको श्रीकृष्ण ने यह समत्व-योग कैसे कहा और सूर्य ने उसे पृथ्वी पर रहनेवाले राजा मनु से कैसे कहा?

पिता—गीता की रचना पद्य में है। इसमें अनेक स्थलों पर काव्य की आलंकारिक भाषा का प्रयोग हुआ है। यहाँ पर जो कहा है

कि "मैंने सूर्य से कहा और सूर्य ने मनु से कहा",—इसका अभिप्राय यह है कि इस समत्व-योग के आचरण का प्रचार सबसे पहले परमात्मा की एक विशेष विभूति सूर्य द्वारा हुआ। सूर्य जिस तरह नियत गति से चलता हुआ निर्लिप्तभाव से सबको एक समान प्रकाशित करता है और गति देता है, उसका किसी के साथ राग अथवा द्वेष नहीं होता और न किसी से वह भेद ही रखता है, इसी तरह समत्व-योगी को आचरण करना चाहिये। सूर्य के आदर्श से मनुष्य-समाज के आदि व्यवस्थापक राजा मनु ने यह समत्व-योग ग्रहण किया और मनु ने इसका आगे प्रचार किया।

पाठ ११

भक्ति

गोपाल—पिता जी! जब कि सब की एकता के साम्य-भाव से आचरण करने का समत्व-योग ही गीता का विषय है, तो सातवें अध्याय से लेकर बारहवें अध्याय तक भक्ति पर इतना ज़ोर क्यों दिया गया है?

पिता—सब की एकता के साम्य-भाव में मन को स्थिर करने के लिए ही एक और साधन-रूप से भक्ति का विधान किया गया है। जिनमें सूक्ष्म विचार करने की योग्यता नहीं होती और जो लोग छठे अध्याय में वर्णित राज-योग का अभ्यास भी नहीं कर सकते, उनके लिए परमात्मा की उपासना करने के सरल साधन से मन को एकाग्र करने का उपदेश दिया गया है।

गोपाल—इस उपासना के विधान में तो श्रीकृष्ण ने "मुझमें मन लगा, मेरा भजन कर, सब कुछ मेरे अर्पण कर, मेरी शरण में आ, मेरा स्मरण कर, मेरा कीर्तन कर"—आदि कह-कह कर अपना प्रभाव खूब जमाया है। दूसरों को तो अहंकार त्यागने का उपदेश देते हैं, परन्तु स्वयं ने अहंकार की भरमार कर दी है।

पिता—क्या भगवान् श्रीकृष्ण ने "मेरा, मुझ में, मुझको" आदि अपने व्यक्तित्व के लिए कहा है ? क्या उन्होंने कहीं पर अपने पृथक व्यक्तित्व का यह अहंकार किया है कि "मैं अमुक मनुष्य, अमुक वर्ण, अमुक जाति के अमुक मनुष्य का पुत्र जो कृष्ण हूँ, उसकी तू उपासना कर ?"

गोपाल—तो, फिर क्या कहा है ?

पिता—भगवान् ने सारी गीता में स्थान-स्थान पर यह कहा है कि "मैं सब में हूँ और सब मुझ में हैं, मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है, मैं सब भूतों में एक समान व्यापक हूँ"। इस प्रकार उन्होंने अखिल विश्व के साथ अपनी एकता का भाव बताया है। अब जरा विचार करो कि जो अपने को सबमें बताता है और उस सर्वरूप की उपासना करने को कहता है, उसपर व्यक्तित्व के अहंकार करने और अपना रोब जमाने का लांछन कैसे आ सकता है ?

गोपाल—जब श्रीकृष्ण ने अपने आपको सब में बताकर अर्जुन को उपासना करने को कहा है, तब उपासना बन ही नहीं सकती; क्योंकि अपने सिवाय कोई दूसरा होवे, तब ही उपासना हो सकती है। जो अपने से भिन्न ही नहीं, उसकी उपासना कैसे हो सकती है ?

पिता—जब तक मनुष्य अपने को दूसरों से अलग एक शरीर का पुतला मानता है, और मन तथा बुद्धि से दूसरों से अलग होने का अभिमान करता है, तब तक उसको अपने से भिन्न ईश्वर अथवा परमात्मा की कल्पना करके उसकी उपासना करने का साधन बताया जाता है। परन्तु साथ में जब यह कहा जाता है कि "वह ईश्वर अथवा परमात्मा सब में एक समान व्यापक है, ऐसा समझ कर उसकी उपासना करो", तो फिर उस तरह की उपासना के अभ्यास से परमात्मा और अखिल विश्व के साथ अपनी एकता का सहज ही अनुभव हो सकता है। इस एकता के अनुभव के लिए उपासना का साधन बहुत ही सुगम है। सातवें अध्याय में उपासना के वर्णन के आरम्भ ही में भगवान्

ने अपनी अपरा और परा भेद से दो प्रकृतियों का वर्णन करके चर और अचर अथवा जड़ और चेतन रूप सारी सृष्टि को अपना ही स्वरूप बताया है और इस तरह अपने स्वरूप का वर्णन करके अपनी उपासना करने को कहा है। इसी तरह बारहवें अध्याय तक सर्वत्र अखिल विश्व को ही अपना रूप बताया है। ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन को दिव्य दृष्टि से अपने विराट् रूप में सारे जगत् को अपने अन्दर दिखाकर अपनी सर्व-रूपता प्रत्यक्ष दिखा दी, और अन्त में इसी रूप की उपासना करने का उपदेश दिया। भगवान् के उस विश्व-रूप की उपासना यही हो सकती है कि परमात्मा को सबके अन्दर व्यापक समझकर सबके साथ यथायोग्य प्रेम का बर्ताव किया जाय और सब के हित के लिए अपनी अपनी योग्यता के कर्म किये जाँय।

पाठ १२

विराट् रूप का रहस्य

गोपाल—पिता जी! मैं यह नहीं समझा कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने छोटे से शरीर में सारे विश्व को कैसे दिखा दिया? यह तो कोरी गप मालूम देता है।

पिता—गोपाल! क्या तुम देखते नहीं हो कि बाईसकोप के फिल्मों में बड़े-बड़े पहाड़ों, समुद्रों, नगरों, नदियों आदि के दृश्य दिखाए जाते हैं? क्या उन फिल्मों में इन सबके समाने की गुञ्जाइश होती है? जब हम को स्वप्न आता है, तब न मालूम कितने-कितने बड़े दृश्य हम देखते हैं। क्या हमारे अन्दर इतने बड़े दृश्य रहने की गुञ्जाइश होती है? मेस्मेरिज्म के खेल करनेवाले अँगूठे के नख पर बालक को राजा के दरबार आदि के दृश्य दिखा देते हैं। क्या अंगूठे के नख में यह सब समाने की गुञ्जाइश होती है?

गोपाल—तो क्या श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जादू का खेल दिखाया था?

पिता—मेरे कहने का तात्पर्य तुम समझे नहीं। जादू, नज़रबन्दी आदि सब मनोयोग की एक क्रिया से दिखाये जाते हैं। जो लोग अपनी मानसिक शक्ति बढ़ा लेते हैं, वे दूसरों पर अपने मन का प्रभाव डाल सकते हैं और अपने मन की बातें दूसरों के मन पर अङ्कित कर सकते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण महायोगेश्वर थे। अपने योगबल से अपनी सर्वरूपता का भाव अर्जुन के मन पर अङ्कित कर दिया और वही उसे दीखने लगा। यह शरीर भी एक छोटा-सा विश्व है। यदि एक अत्यन्त बारीक वस्तु को बहुत ही बड़ी दिखानेवाले यन्त्र का निर्माण किया जा सके, तो उसके द्वारा इस शरीर में ही विश्व दीख सकता है। जिस तरह शरीर अनन्त हैं, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड भी अनन्त हैं। वर्तमान में पश्चिमी ज्योतिषियों ने ज्योतिष की वेधशालाओं (Observatories) की दूरबीनों द्वारा यह बात प्रत्यक्ष देख ली है कि ब्रह्माण्डों का कोई अन्त नहीं है। जिस तरह मन की कल्पनाएँ अनन्त हैं, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड भी अनन्त हैं। मन को एकाग्र करने से मानसिक दिव्य दृष्टि द्वारा यह बातें प्रत्यक्ष दीख सकती हैं। भगवान् ने अर्जुन को इसी मानसिक दिव्य दृष्टि द्वारा विश्वरूप दिखाया था।

पाठ १२

चतुर्भुज रूप का रहस्य

गोपाल—पिता जी! ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन की प्रार्थना पर श्रीकृष्ण ने मुकुट धारण किये हुए अपना चतुर्भुज रूप भी तो दिखाया है। इससे तो एक ख़ास रूप की उपासना करने का उपदेश ही पाया जाता है।

पिता—उस चतुर्भुज रूप का रहस्य भी तुमको अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। उसमें मस्तक पर जो मुकुट है, वह सबकी एकता का चिन्ह है। जो महापुरुष बहु-जन-समाज की एकता के केन्द्र होते हैं, उन्हीं के सिर पर मुकुट शोभा देता है। उस रूप में जो चार भुजायें

दिखाई जाती हैं उनमें से एक में शंख, दूसरी में चक्र, तीसरी में गदा और चौथी में कमल दिखाया जाता है। शंख शब्दात्मक है, यह विद्या का चिह्न है। चक्र कर्मशीलता का चिह्न है, क्योंकि संसार के सब व्यवहार चक्र रूप हैं। गदा शक्ति का चिह्न है। पद्म अनासक्ति का चिह्न है। जो पुरुष सबकी एकता के अनुभवयुक्त विद्या और बल से, आसक्ति-रहित होकर संसार के व्यवहार करता है, वही परमात्मा स्वरूप होता है; और इस भाव की निरन्तर उपासना करनेवाला भी अन्त में परमात्मा रूप हो जाता है; क्योंकि जिसकी जैसी दृढ़ भावना होती है, वैसा ही वह हो जाता है।

पाठ १४

मूर्ति-पूजा

गोपाल—तो, क्या पिता जी! गीता को मूर्ति-पूजा मान्य नहीं है?

पिता—गीता में निस्सन्देह मूर्ति-पूजा का विधान नहीं है, क्योंकि गीता कोई साम्प्रदायिक ग्रन्थ नहीं है। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि मूर्ति-पूजा निरर्थक है। मूर्ति-पूजा भी मन को एक जगह टिकाने का एक प्रारम्भिक साधन है। जिस तरह बच्चों को शिक्षा आरम्भ होती है, तब पहले-पहल पट्टी पर वर्णमाला के अक्षर लिख-कर सिखाये जाते हैं। आरम्भ में उन अक्षरों के सिखाने की आवश्य-कता भी होती है। अक्षरों के बिना विद्याध्ययन नहीं हो सकता। परन्तु जब बालक लिखने-पढ़ने लग जाता है, तब अक्षरों के अभ्यास की आवश्यकता नहीं रहती। इसी तरह मन को एकाग्र करने के लिए प्रारम्भिक दशा में मूर्ति-पूजा की आवश्यकता रहती है। जब मनुष्य समझदार हो जाता है, तब उसकी आवश्यकता नहीं रहती।

गोपाल—इस मूर्ति-पूजा का केवल हिन्दुओं में ही प्रचार क्यों है? दूसरे मज़हब वाले भी तो ईश्वरोपासना में मन लगाते ही हैं।

पिता—जो ईश्वर की उपासना करते हैं, वे सभी रूपान्तर से मूर्ति पूजते हैं। कोई किसी पुस्तक, ग्रन्थ अथवा किताब अथवा चित्र को पूजते हैं। कोई किसी स्थान या दिशा को पूजते हैं। कोई किसी शब्द अथवा नाम को पूजते हैं। कोई किसी मनुष्य को ही ईश्वर या उसका प्रतिनिधि या उसका दूत या उसका बेटा मानकर उसकी पूजा करते हैं। कोई सूर्य, अग्नि, जलादि को पूजते हैं। ये सब मूर्त पदार्थ ही हैं। बिना मूर्त अर्थात् अमूर्त तो केवल एक आत्मा ही है, जो सबका "अपना आप" है। दूसरे लोग अव्यवस्थित रूप से मूर्ति पूजा करते हैं, जिससे उनके मन को एकाग्र करने में सफलता मिलनी बहुत कठिन होती है। हिन्दुओं ने बहुत ही व्यवस्थित रूप से ईश्वर की विशेष विभूति सम्पन्न मूर्ति की कल्पना करके यानी मनुष्याकार चतुर्भुज मूर्ति बनाकर उसके द्वारा ईश्वर की उपासना का अत्यन्त सरल रास्ता निकाल लिया, जिससे मन को एकाग्र करने में बड़ी सुगमता होती है। उस मूर्ति-पूजा का तात्पर्य उस मूर्ति ही की उपासना करने का नहीं होता, अपितु उस मूर्ति के द्वारा उस मूर्ति में तथा अखिल विश्व में स्थित परमात्मा की उपासना करने का होता है। इस प्रकार मूर्ति-पूजा का जो विधान है और उसके सम्बन्ध के जो मन्त्र व स्तोत्र आदि हैं, उनमें यही भाव भरा हुआ होता है।

गोपाल—मूर्ति पूजा की जो उपासना वर्तमान में हो रही है, वह तो जैसी आप कहते हैं, वैसी नहीं होती; केवल मूर्ति की ही उपासना होती है। मूर्ति को ही विशेष शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति, देवता अथवा ईश्वर मान कर उसे बहुमूल्य कपड़ों व गहनों से सजाना, उसको सुलाना, जगाना, केशर-चन्दन आदि से उसका अर्चन-पूजन करना, उसके सामने स्वादिष्ट भोग-प्रसाद के ढेर लगाना और नाचना, गाना, खेल, तमाशे आदि करना ही उपासना का यथार्थ स्वरूप समझा जाता है।

पिता—संसार में बहुत सी अच्छी बातों का अतिक्रम होकर वे हानिकारक हो जाया करती हैं। उसी तरह ईश्वर उपासना का भी बहुत अतिक्रम हो गया है। अर्थ का अनर्थ कर दिया गया है। जो केवल साधन-मात्र था, उसी को साध्य बना लिया गया है। लोग जन्मभर इस प्रारम्भिक अवस्था को छोड़ते ही नहीं। इसीको पुरुषार्थ की इतिश्री मानकर सदा बालकों की तरह इस खेल में ही लगे रहते हैं, और इतने अधिक धन, समय और शक्ति को लोकहितकर कार्यों में न लगाकर ईश्वर उपासना के नाम पर लगा देते हैं। गीता में तो ऐसी उपासना का कोई विधान नहीं है। व्यक्ति की उपासना का गीता में स्पष्ट शब्दों में निषेध किया गया है। इतना ही नहीं, वरन् ऐसी उपासना करनेवालों को आसुरी और राक्षसी प्रकृति के मनुष्य कहा गया है (देखो गीता अध्याय ९ श्लोक ११–१२, अध्याय ७ श्लोक २० से २४ तक)। जो लोग ईश्वर की उपासना के नाम से द्रव्य का इतना अपव्यय करते हैं और मनुष्य शरीर के अमूल्य समय तथा शक्ति को निरर्थक गँवाते हैं, तथा ईश्वर उपासना के नाम पर आपस में ईर्ष्या-द्वेष करते हैं, और लड़ते-झगड़ते हुए एक दूसरे की हत्या तक कर देते हैं, धार्मिक-झगड़ों में खून की नदियाँ बहा देते हैं, और सर्वव्यापक परमात्मा की उपासना में भी इतना भेद रखते हैं कि स्त्रियों तथा नीच जाति के माने जानेवाले लोगों को उससे रोकते हैं, और खास जाति के लोग ही उसके ठेकेदार बन जाते हैं, उनके लिए गीता में अज्ञानी, मूढ़, मूर्ख, पागल, असुर, राक्षस आदि विशेषण दिये गये हैं, और ये सर्वथा उपयुक्त ही हैं।

पाठ १५

सच्ची उपासना

गोपाल—नौवें अध्याय के छब्बीसवें श्लोक में श्रीकृष्ण ने कहा है कि पत्र, पुष्प, फल और जल से जो मेरी पूजा करता है, वह भक्त

मुझे प्यारा होता है। इसका भाव तो यही निकलता है कि मूर्ति पर पत्र-पुष्प आदि चढ़ाने से ईश्वर प्रसन्न होता है।

पिता—मैं पहिले कह आया हूँ कि गीता में मूर्ति की पूजा का तो कोई जिक्र ही नहीं है। फिर उसपर पत्र-पुष्प चढ़ाने का विधान कैसे हो सकता है। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि जगत् में मनुष्य, पशु, पत्ती, वनस्पति आदि सभी शरीर परमात्मा के ही रूप होते हैं। इसलिए जिस शरीर की जैसी योग्यता होती है, उसीके अनुसार पत्र, पुष्प, फल,जल आदि ही से प्रेमपूर्वक जो उनकी सेवा की जाय, वही परमात्मा की उपासना होती है। उस श्लोक के वाद के ही श्लोकों में भगवान् ने यह स्पष्ट कह दिया है कि "तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर; मैं सब भूतों में एक समान हूँ, इत्यादि"। इससे स्पष्ट है कि पत्र, पुष्प, फल और जल मूर्ति पर चढ़ाने का विधान नहीं है, किन्तु उनके द्वारा लोगों की सेवा करने का है।

पाठ १६

सगुण और निर्गुण उपासना

गोपाल—पिता जी! बारहवें अध्याय में तो श्रीकृष्ण ने निर्गुण उपासना की अपेक्षा सगुण उपासना को विशेष महत्व दिया है, जिससे मूर्ति-पूजा का ही विधान पाया जाता है।

पिता—देखो, गोपाल! ग्यारहवें अध्याय में भगवान् ने अपना विश्वरूप दिखाकर अन्त में कहा है कि "इस तरह मेरी अनन्य भाव से उपासना करनेवाला भक्त मुझे तत्त्व से जानकर मुझमें प्रवेश होता है"। यह कहकर फिर कहा है कि "मेरे लिए कर्म कर, मेरे परायण हो, मेरा भक्त हो, संग से रहित होकर सब भूतों के साथ वैरभाव से रहित हो अर्थात् प्रेम कर"। इस पर बारहवें अध्याय के पहिले श्लोक में अर्जुन ने पूछा है कि जो इस प्रकार निरन्तर एकता के भाव में

जुड़कर आपकी उपासना करता है, और जो आपके अक्षर एवं अव्यक्त-भाव की उपासना करता है, उनमें उत्तम समत्व-योग-युक्त कौन है ? उसके उत्तर में भगवान् ने अपने विश्वरूप की उपासना में लगे रहनेवाले भक्त को उत्तम बताया है। वहाँ पर मूर्ति-पूजा अथवा किसी व्यक्ति की पूजा का कोई विधान नहीं है, किन्तु अखिल विश्व के साथ प्रेमपूर्वक सबके हित में लगे रहने की उपासना का विधान है। उसी अध्याय में आगे चलकर तेरहवें से उन्नीसवें श्लोक तक जो उत्तम भक्त के लक्षण कहे हैं, उनमें अपने व्यक्तित्व के अहंकार से तथा विशेष व्यक्तियों के साथ ममता से रहित होकर सब प्राणियों के साथ मित्रता तथा करुणा आदि से यथायोग्य प्रेम का वर्ताव करनेवाले, सुख-दुःख, हानि-लाभ, हर्ष-शोक, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, शुभ-अशुभ, शत्रु-मित्र आदि द्वन्द्वों में सम रहनेवाले, क्षमाशील, सदा सन्तुष्ट रहनेवाले, सबके साथ एकता के साम्य-भाव में जुड़े रहनेवाले, संयमी, पक्की धारणा वाले, किसी को उद्विग्न न करनेवाले, और स्वयं उद्विग्न न होने वाले, स्वावलम्बी, पवित्र, चतुर, आसक्ति-रहित, प्रसन्न-चित्त, काम, क्रोध, शोक, भय आदि के वश में न रहनेवाले भक्त को अपना अत्यन्त प्यारा भक्त बताया है। भक्त के इस वर्णन में कहीं भी यह नहीं कहा कि मेरे अमुक नामों का इतना जप करनेवाले या इतनी मालाएँ फेरनेवाले या अमुक स्तोत्रों का पाठ करनेवाले या मेरे किसी विशेष रूपों के ध्यान में लगे रहनेवाले अथवा प्रतिदिन इतनी बार मन्दिरों या उपासना-स्थानों में पहुँचकर आराधना करनेवाले अथवा पञ्चोपचार या षोडशोपचार आदि विधि से अर्चन-पूजन, संध्या-वन्दन करनेवाले भक्त मुझे प्यारे होते हैं। न यह कहा है कि अमुक प्रकार के यज्ञानुष्ठान करनेवाले अथवा आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि आदि हठ-योग के साधनों में लगे रहनेवाले अथवा व्रत-उपवास करके भूख, प्यास, सर्दी, गरमी आदि से शरीर को कष्ट देकर तप करनेवाले अथवा तीर्थयात्रा के निमित्त भ्रमण करनेवाले और नदी, तालाबों तथा समुद्रों

आदि में नहानेवाले अथवा देव-कर्म, पितृ-कर्म आदि कर्म-काण्डों में लगे रहनेवाले भक्त मुझे प्यारे होते हैं। न यही कहा है कि शरीरों पर अमुक प्रकार के चिह्न लगानेवाले या अमुक प्रकार की वेष-भूषा रखने वाले अथवा अमुक स्थान में निवास करनेवाले अथवा अमुक शास्त्रों के माननेवाले या उनके अध्ययन में लगे रहनेवाले अथवा शरीरोंकी वाहरी पवित्रता के आचार-विचार को प्रधानता देनेवाले अथवा अमुक जाति, अमुक वर्ण, अमुक आश्रम के लोग अथवा अमुक धर्म, पन्थ, मजहब अथवा सम्प्रदाय के अनुयायी ही मेरे प्यारे भक्त होते हैं। जब कि बारहवें अध्याय में, जिसका नाम ही "भक्ति-योग" है, इस प्रकार की उपासना का विधान नहीं है, तो इससे स्पष्ट होता है कि संसार में जो अनेक प्रकार की साम्प्रदायिक उपासनाएँ चल रही हैं, उनके लिए गीता में कोई स्थान नहीं है। न इसमें यह विधान है कि अपने कर्त्तव्य-कर्म छोड़कर भगवान् के ध्यान, जप, कीर्तन आदि में लगे रहना चाहिये, अथवा घर-गृहस्थी से किनारा करके किसी तीर्थ स्थान में निवास करते हुए भगवत्स्मरण में ही जीवन बिता देना चाहिये। इसमें तो सर्वत्र एक ही आत्मा अथवा परमात्मा को एक समान व्यापक समझ कर सबके साथ प्रेमपूर्वक यथायोग्य साम्यभाव के व्यवहार करने द्वारा लोक-सेवा करने का ही विधान है और गीता के अनुसार यही सच्ची उपासना है। यह उपासना छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष आदि सबके लिए बहुत सुगम है और सभी इसको अच्छी तरह कर सकते हैं (देखो गीता अध्याय ९, श्लोक २९ से ३२ तक)।

पाठ १७

जप और कीर्तन

गोपाल—दसवें अध्याय में विभूति वर्णन में श्रीकृष्ण ने कहा है कि "यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि" अर्थात् यज्ञों में जप-यज्ञ मैं हूँ और

इससे पहले नवें अध्याय के चौदहवें श्लोक में "कीर्तन" करने को कहा है। इससे तो जप और कीर्तन करने का विधान पाया जाता है।

पिता—देखो, बेटा! वहाँ किसी नाम-विशेष का जप करने अथवा कीर्तन करने का उल्लेख नहीं है। गीता में केवल "ॐकार" के जप, कीर्तन एवं चिन्तन का विधान है और "ॐ" शब्द सबकी एकता का वाचक अत्तर है। "ॐ" शब्द अ, उ और म् अत्तरों का समूह है, जो स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर अथवा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत् अथवा जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति भेद से शरीर की तीन अवस्थाओं अथवा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय आदि त्रिपुटियों की एकता और सत्-चित्-आनन्द-भाव का सूचक है। सारांश यह कि 'ॐ' के उच्चारण से सब की एकता का चिन्तन होता है; इसलिये गीता में इस अत्तर-ब्रह्म का बार बार चिन्तन अथवा उच्चारण करने का विधान है।

पाठ १८

मन्दिरों और तीर्थों की उपयुक्तता

गोपाल—तब तो, पिता जी! आपकी इस व्याख्या के अनुसार मन्दिर और तीर्थ आदि उपासना के स्थान सब फिजूल ही हैं।

पिता—बेटा! ये फिजूल नहीं हैं। जिस उद्देश्य से इनकी रचना हुई थी, यदि उसके अनुसार इनकी व्यवस्था हो और उसी के अनुसार इनका उपयोग किया जाय, तो ये लोगों के लिए बहुत ही हितकारी और कल्याण के साधन हैं।

गोपाल—बताइए, पिता जी! वह उद्देश्य क्या है?

पिता—मन्दिर और तीर्थ-स्थानों की रचना सब लोगों को एकता के सूत्र में गुंथे रखकर आपस में प्रेम बढ़ाने, संकट में सबके लिये सहायता प्राप्त होने और सब प्रकार की उन्नति की व्यवस्थायें करने के लिये हुई थी। प्रत्येक गांव में एक एक मन्दिर होता था। बड़े शहरों

का फैलाव और आबादी ज्यादा होने के कारण उनमें आवश्यकतानुसार अधिक मन्दिर होते थे। मन्दिर में अचल मूर्ति स्थापित की जाती थी, ताकि उस मन्दिर पर किसी व्यक्ति का कोई विशेष हक न रहे। वह ईश्वर की यानी सार्वजनिक सम्पत्ति मानी जाती थी और उस मूर्ति के दर्शन तथा ध्यान के अवलम्बन से लोगों को अपने मन को परमात्मा की एकता में ठहराने में सहायता प्राप्त होती थी। बस्ती के सब लोग नित्य-प्रति नियत समय पर वहाँ दर्शन करने जाते और आपस में मिलकर प्रेम बढ़ाते। मन्दिरों में कथायें, सत्सङ्ग, सदुपदेश आदि का प्रबन्ध होता था, जिन से वे बहुत लाभ उठाते। आवश्यकता होने पर मन्दिरों ही में बस्ती की पञ्चायतें हुआ करती थीं, जिनमें सारी बस्ती के हित की बातों पर विचार हुआ करता था। मन्दिर में बालकों की शिक्षा के लिये पाठशाला और विद्यालय भी होते थे और भूखों के लिए अन्न-क्षेत्र होते थे। बाहर से आने वालों के लिये ठहरने का प्रबन्ध होता था। पुजारी अतिथि का सत्कार किया करता था। मन्दिरों के शिखिर पर की ध्वजा आगन्तुक लोगों को सूचना देने का काम देती थी। सुबह मङ्गला की आरती होती थी, जिसके शङ्ख, नगारों, घड़ियालों वगैरह की आवाज से सब बस्ती के लोगों को उठने के समय की सूचना मिलती थी। इसी प्रकार दोपहर को भोग की आरती से भोजन के समय की, साँझ की आरती से काम-काज से निवृत्त होने के समय की और रात को शयन की आरती से सोने के समय की सूचना मिलती थी; ताकि लोग ठीक समय पर अपने व्यवहार यथोचित रूप से कर सकें। इस तरह मन्दिरों से लोगों का बड़ा हित होता था।

तीर्थ स्थानों से भी लोगों का बहुत लाभ होता था। पर्व आदि के अवसरों पर दूर दूर के लोग वहाँ जाते और आपस में मिलते, जिससे एक दूसरे के दुःख सुख का हाल मालूम होता और आपस में प्रेम बढ़ता; तथा एक दूसरे प्रान्त के लोगों के रहन-सहन, बोल-चाल, रीति-रिवाज, कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान, व्यापार-वाणिज्य का और

भिन्न-भिन्न देशों में होने वाली घटनाओं, विशेषताओं, तथा आवश्यकताओं का एक दूसरे को ज्ञान होता था, जिससे सब का अनुभव और होशियारी बढ़ती थी। दूसरे प्रान्तों में उत्पन्न होने और बननेवाली वस्तुएँ लोग अपने अपने प्रान्त में लाकर उनका उपयोग करते और उनसे लाभ उठाते थे। देशाटन और यात्रा के परिश्रम से शरीर दृढ़ और बलवान् होता तथा भीरुपन और भोंदूपन कम होता था। तीर्थ स्थानों के स्वच्छ जलवायु से यात्रियों का स्वास्थ्य सुधरता और पर्वत, वन, नदी, नालों आदि की सुन्दर प्राकृतिक छटा देखने से मन प्रसन्न होता था। वहाँ पर सन्त, महात्मा, ज्ञानी और गुणी जन निवास किया करते थे, उनके सत्सङ्ग और सदुपदेशों से लोग धार्मिक तथा नैतिक प्रश्नों का सच्चा समाधान प्राप्त करते थे। वहाँ के सादे और संयमी जीवन से शान्ति लाभ करते और सब की एक ही इष्ट पर श्रद्धा होने के कारण लोग आपस की एकता का अनुभव किया करते थे।

परन्तु वर्तमान समय में मन्दिरों और तीर्थों की दशा बिलकुल विपरीत हो गयी है। जिस उद्देश्य से इनकी रचना हुई थी, उसको लोग भूल गये हैं। जगह-जगह मन्दिरों की अनावश्यक भरमार होगई है, और वे पुजारियों अथवा मठाधीशों आदि के स्वार्थ-साधन और धींगा-मस्ती के अड्डे होगये हैं। लोक-हित की व्यवस्थाओं का प्रायः लोप होगया है। इसी तरह तीर्थ-स्थानों में तीर्थपन कुछ भी नहीं रहा। ये भी अधिकतर विषयी लोगों के भोगविलास के अड्डे और भोली जनता को ठगने और लूटने वाले गुण्डों के निवास-स्थान होगये हैं। इसलिए वर्तमान अवस्था में इनसे लोगों को लाभ होने के बदले उलटी हानियाँ होती हैं और ये समाज की गिरावट के कारण बन गये हैं।

पाठ १९

ईश्वर का अस्तित्व और स्वरूप

गोपाल—आपके इस सारे कथन का मतलब तो मैं यह समझा कि गीता ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं मानती।

पिता—वाह! गीता ईश्वर का अस्तित्व क्यों नहीं मानती? वह नास्तिकवाद तो है ही नहीं। परन्तु ईश्वर को लोग जिस प्रकार सातवें आसमान पर बैठा रहनेवाला, अथवा गोलोक, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ लोक आदि लोकान्तर में निवास करनेवाला अथवा समुद्र में वास करनेवाला, या मन्दिरों, मठों अथवा दूसरे उपासना स्थानों में बन्द रहनेवाला, अर्थात् देश, काल और व्यक्ति में सीमाबद्ध मानते हैं; और ऊँचे स्वरों से बाँगे दे-देकर उसको बुलाते हैं, अथवा कई प्रकार के बाजे बजाकर उसे जगाते हैं, अथवा मन्त्रों द्वारा उसका आवाहन करते हैं, और उसको खाने, पीने तथा भोग-विलास की सामग्रियों द्वारा अथवा गरज, खुशामद, चापलूसी द्वारा प्रसन्न करके उससे अपना मतलब निकालना चाहते हैं, अथवा अपने पापों और कसूरों को माफ़ करवाना चाहते हैं, अथवा उसको न्यायी, दयालु, कृपालु, दीनबन्धु, भक्तवत्सल आदि अनेक प्रकार के मनुष्योचित विशेषण देकर उसकी स्तुति करते हैं; इस तरह का एक खुशामद-पसन्द और विलासी राजा-बादशाह जैसा ईश्वर गीता नहीं मानती। यह तो ईश्वर क्या हुआ लोगों के मन का खिलौना हुआ। अपना मतलब निकालने के लिए जिसने जैसा चाहा, वैसा ही उसे बनाकर अपना मन बहला लिया!

गोपाल—तो बताइये, फिर गीता कैसा ईश्वर मानती है?

पिता—जो सत्ता अथवा जो शक्ति प्रत्येक शरीर में और सब शरीरों में "मैं" रूप से एक समान व्याप्त है, और जो सत्ता अथवा शक्ति सारे विश्व में एक समान व्याप्त हो रही है, तथा जो सत्ता अथवा शक्ति सब शरीरों की और सारे ब्रह्माण्ड की आधार है, और

जो सत्ता अथवा शक्ति शरीरों तथा जगत् के बनाव बदलते रहने पर भी नहीं बदलती–सदा एक समान बनी रहती है, गीता के अनुसार वही ईश्वर है, वही आत्मा, वही परमात्मा, वही ब्रह्म, वही खुदा, वही गॉड (God) अथवा जो कुछ भी नाम धर दिया जाय, वही सब कुछ है और वही सबका "अपना आप" है।

गोपाल—उस सत्ता अथवा शक्ति का क्या स्वरूप है ?

पिता—विश्व में जितने स्वरूप हैं और जिस किसी भी स्वरूप की कल्पना की जा सकती है, सब उसी के हैं। इसलिए वह किसी ख़ास स्वरूप में रुकी हुई नहीं है। वह सत्ता किसी ख़ास देश या ख़ास स्थान अथवा ख़ास काल अथवा ख़ास व्यक्ति में परिमित नहीं है, किन्तु सब देश, सब काल, सब व्यक्ति उसी सत्ता का एक थोड़ा सा प्रदर्शनमात्र है।

गोपाल—तो उसके गुण क्या हैं ?

पिता—विश्व में जितने गुण हैं और जितने हो सकते हैं, वे सब उसी के हैं; परन्तु वह किसी ख़ास गुण में परिमित नहीं है।

गोपाल—उसका कोई लक्षण भी है या नहीं ?

पिता—विश्व में जितने भी लक्षण हैं, सब उसीके हैं। परन्तु समझाने के लिए उसे सत्, चित्, आनन्द कहते हैं; अर्थात् जो कुछ भी अस्तित्व है, वह उसका है; जो कुछ प्रतीत होता है, वह उसी की प्रतीति है; और जो कुछ अच्छा, प्यारा अथवा आनन्दरूप है, वह उसी से है। वह सत्, चित्, आनन्द का भाव सबको अपने-आप में प्रत्यक्ष अनुभव होता है, क्योंकि अपने-आपके होने का अनुभव सबको होता है, अपने-आप की प्रतीति सबको होती है, और अपना-आप सबको अच्छा और प्यारा लगता है। इसलिए सत्, चित्, आनन्द-स्वरूप सबका अपना-आप ही वह सत्ता अथवा शक्ति है।

पाठ २०

ईश्वर का जगत् से अभेद

गोपाल—इस हिसाब से तो, पिता जी! आपने अपने-आप ही को ईश्वर बना दिया।

पिता—क्या ईश्वर कोई बनाने की वस्तु है, जो मैंने बना दी? वह तो स्वतः सिद्ध है।

गोपाल—गीता के १८वें अध्याय के ६१वें श्लोक में कहा है कि ईश्वर सब भूतों के हृदय में बैठा हुआ अपनी माया से सब भूतों को घुमाता है। इससे तो मालूम होता है कि ईश्वर सब से पृथक् है?

पिता—जो ईश्वर सबके हृदय में बैठा है, वह सबसे पृथक कैसे हो सकता है? हृदय में तो अपना-आप ही रहता है। इसलिए इसी श्लोक से सिद्ध होता है कि ईश्वर सब का अपना-आप ही है।

गोपाल—यदि ऐसा ही है तो इस श्लोक में पृथकता की भाषा का प्रयोग क्यों हुआ है?

पिता—शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सब का आधार, सब का प्रेरक, सब का स्वामी, सब में "मैं" रूप से रहनेवाला जो आत्मा है, उसी की सत्ता से उन सब का अस्तित्व है। इसलिए शरीरादि के स्वामी आत्मा को ईश्वर कहा है। जो एक शरीर का स्वामी है, वही सब शरीरों का स्वामी है।

गोपाल—इससे तो आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से जुदा ही रहा।

पिता—नहीं, वह जुदा नहीं है। वही अपनी अपरा प्रकृति से मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर-रूप होता है और वही अपनी परा प्रकृति से चेतन-रूप होकर उनके स्वामी भाव से उनको प्रेरित करता है।

पाठ २१

जीवात्मा और परमात्मा की एकता

गोपाल—पिता जी ! शरीर के अन्दर तो जीवात्मा रहता है। जीवात्मा परमात्मा नहीं हो सकता।

पिता—जो दूसरों से अलग किसी एक व्यक्ति अथवा शरीर में ही अपना अस्तित्व परिमित मानता है, उसकी जीव संज्ञा होती है। जो सब व्यक्तियों एवं सब शरीरों में अपना अस्तित्व मानता है और शरीरों के होने तथा न होने में भी अपना अस्तित्व सदा विद्यमान मानता है, उसकी परमात्मा अथवा ईश्वर संज्ञा है। वास्तव में जीवात्मा और परमात्मा सब एक ही हैं। जो अपने को जैसा मानता है, वह वैसा ही होजाता है। देखो, समुद्र की अनेक तरंगें होती हैं—कोई बड़ी और कोई छोटी—वे सब जल-रूप ही होती हैं। जल के सिवाय और कुछ नहीं होतीं—इसी तरह जीव-भाव की सब भिन्नताएँ एक ही आत्मा अथवा परमात्मा-रूप हैं, उससे भिन्न कुछ नहीं हैं।

गोपाल—अलग-अलग जीवों में आत्मा भी अलग-अलग तरह का होता होगा। वह छोटे में छोटा और बड़े में बड़ा होता होगा ?

पिता—क्या समुद्र की लहरों में जल भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है अथवा उसके टुकड़े होकर वह छोटा-मोटा हो जाता है ? सब लहरों में जल एक ही प्रकार का और एक ही समान होता है; उसी प्रकार आत्मा सब में एक और सम है। शरीरों के छोटे-बड़े होने से आत्मा छोटा या बड़ा नहीं होता।

पाठ २२

अलग-अलग जीवों के सुख-दुःख आदि में भेद क्यों ?

गोपाल—अच्छा, पिता जी ! यदि आत्मा एक और सम है, तो अलग-अलग जीवों के सुख-दुःख आदि एक समान क्यों नहीं होते;

और उनका एक-दूसरे को अनुभव क्यों नहीं होता ? सबको सबका ज्ञान क्यों नहीं होता ? सबके स्वभाव एक समान क्यों नहीं होते ? कोई छोटे, कोई बड़े, कोई ऊँचे, कोई नीचे आदि क्यों होते हैं ?

पिता—गोपाल ! जो अपने को जैसा मानता है, वह वैसा ही हो जाता है। लोग अपने-आपको एक-दूसरे से कतई अलग मानते हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार की इच्छाएँ करते हैं। इसलिए सबके स्वभाव और सुख-दुःख एक से नहीं होते और इसीलिए सबके सुख-दुःखों का अनुभव एक-दूसरे को नहीं होता ।

गोपाल—यदि मनुष्य जैसी इच्छा करता है वैसा ही हो जाता है, तो दुःखी होना अथवा परतन्त्र होना तो कोई नहीं चाहता । सब कोई सुखी और स्वतन्त्र होना चाहते हैं, फिर ऐसा क्यों नहीं होता ?

पिता—यद्यपि दुःखी और परतन्त्र होना सबको बुरा लगता है, परन्तु यह बात बिलकुल सच है कि दुःखों और परतन्त्रता से छुटकारा पाने की लोगों की दृढ़ इच्छा नहीं है। इसीलिए वे उनसे छुटकारा नहीं पाते। यह बात स्वतः सिद्ध है कि दुःख और बन्धन अपने को दूसरों से अलग एक तुच्छ, अल्पज्ञ, दीन, सामर्थ्यहीन व्यक्ति मानने तथा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए दूसरों से ईर्ष्या, राग, द्वेष, घृणा आदि करने से होते हैं। यदि सबके साथ अपनी एकता का दृढ़ निश्चय करके सबसे प्रेम का वर्ताव किया जाय, तो मनुष्य महान् हो सकता है। फिर दुःख या बन्धन कुछ भी नहीं रहते। जितना ही अधिक दूसरों के साथ एकता का निश्चय किया जाता है, उतना ही अधिक सुख और स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है, और सबके साथ पूर्ण एकता का अडिग निश्चय होकर पूर्ण प्रेम का वर्ताव होने पर पूर्ण सुख और स्वतन्त्रता हो जाती है। जिस तरह किसी स्वतन्त्र राष्ट्र के सभी व्यक्ति राष्ट्र-रूप ही होते हैं, अपनी राष्ट्रीयता पर उन सबका एक समान अधिकार होता है और अपने राष्ट्र में सभी स्वतन्त्र होते हैं, परन्तु जो लोग अपने पृथक् व्यक्तित्व के भाव को और व्यक्तिगत स्वार्थों को

जितना ही अधिक राष्ट्रीय एकता में जोड़ देते हैं, वे उतने ही अधिक राष्ट्र पर अधिकार प्राप्त करते हैं; और जो अपने सारे व्यक्तित्व एवं सारे स्वार्थों को राष्ट्र के साथ पूर्णतया जोड़ देते हैं, वे राष्ट्र के स्वामी हो जाते हैं। ठीक इसी तरह प्रत्येक जीव वास्तव में पूर्ण स्वतन्त्र है, परन्तु जितना ही अधिक वह दूसरों के साथ एकता का अनुभव करता है, उतना ही वह स्वतन्त्रता का अधिक अनुभव करता है; और पूर्ण एकता का अनुभव करने से पूर्ण स्वतन्त्र अर्थात् सबका स्वामी होजाता है। परन्तु लोग अपने संकुचित व्यक्तित्व के भाव से ऊपर उठकर सबके साथ अपनी एकता का अनुभव करके महान् बनना ही नहीं चाहते, इसलिए वे दुःखी और परतन्त्र रहते हैं।

गोपाल—देखिये, पिता जी ! भारतवासी विदेशियों की पराधीनता की बेड़ियों से जकड़े हुए हैं; वे सभी उससे मुक्त होना चाहते हैं, परन्तु चाहने मात्र से स्वतन्त्र नहीं होगये।

पिता—बेटा ! भारतवासियों में अब तक स्वतन्त्रता के भाव अच्छी तरह जागृत नहीं हुए हैं। भारतवासी परतन्त्रता के जितने उपासक हैं, उतने शायद ही कोई दूसरे लोग हों। भारतवासियों ने अपने को इतनी परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ रक्खा है कि उनको रखते हुए स्वतन्त्रता प्राप्त होने की आशा रखना दुराशामात्र है। सबसे अधिक मजबूत बेड़ी धार्मिक अन्धविश्वास और सामाजिक संकीर्णता के विचारों की है। भारतीय जनता की विचार-शक्ति को धार्मिक गुरुओं और आचार्यों आदि धर्म के ठेकेदारों और धर्मशास्त्रों ने इतना निकम्मा बना दिया है कि सच्ची स्वतन्त्रता का विचार भी उनके दिमाग में उत्पन्न नहीं होता। दूसरी तरफ सामाजिक रीति-रस्मों ने जात-पाँत के हजारों फिरके बनाकर सबको अलग-अलग अत्यन्त तङ्ग कोठरियों में बन्द कर रक्खा है। इनके कारण वे न तो एक-दूसरे से मिल सकते हैं और न आपस की एकता के भाव ही उनके हृदय में स्थान पा सकते हैं। धार्मिक अन्धविश्वास और सामाजिक बन्धनों के

कारण एक-दूसरे को छोटा, बड़ा, ऊँचा, नीचा या अच्छा-बुरा मानकर वे आपस में लड़ते-झगड़ते और एक-दूसरे से घृणा-तिरस्कार करते हैं। इस देश की पराधीनता के ये ही मुख्य कारण हैं। इन धार्मिक अन्ध-विश्वासों और सामाजिक बन्धनों को मिटाकर स्वतन्त्र होना यहाँ के लोगों के पूर्णतया अधिकार में है, परन्तु वे ऐसा करना नहीं चाहते। इसीसे स्वतन्त्र नहीं हो सकते। जबतक परतन्त्रता के ये कारण बने हुए हैं, तबतक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। यदि यह स्थिति न बदली, तो एक प्रकार की परतन्त्रता मिट जाने पर भी दूसरे प्रकार की उत्पन्न होजायगी।

गोपाल—इस समय तो बहुत से भारतवासी स्वतन्त्रता के संग्राम में लगे हुए हैं।

पिता—स्वतन्त्रता के संग्राम में लगनेवाले जिन भारतवासियों ने इन धार्मिक अन्धविश्वासों तथा सामाजिक बन्धनों से अपना पिंड छुड़ा लिया है, उन्होंने ही देश की स्वतन्त्रता प्राप्त करने में कुछ सफलता प्राप्त की है; लेकिन उनकी संख्या बहुत कम है। इसीलिए सफलता भी बहुत ही थोड़े अंशों में प्राप्त हुई है। अधिकतर संख्या उनकी है, जो धार्मिक-अन्धविश्वासों और सामाजिक बन्धनों को अपनाये बैठे हैं। इनसे छुटकारा पानेवालों की संख्या ज्यों-ज्यों बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों स्वतन्त्रता बढ़ती जायगी। यही हाल प्रत्येक मनुष्य का है। मनुष्य अपने को एक जीव अथवा शरीर मानता है और शरीर के साथ उसने खास जाति, खास नाम, खास धर्म, खास सम्प्रदाय, खास समाज, खास निवास, खास पद और खास तरह की प्रतिष्ठा की उपाधियाँ जोड़ रक्खी हैं। इनके कारण ही सब दुःख और बन्धन होते हैं। इन उपाधियों से रहित होना यद्यपि उसके वश में है, परन्तु उन्हें वह छोड़ना नहीं चाहता। इससे यह स्पष्ट है कि वह दुःख और बन्धन भी छोड़ना नहीं चाहता।

पाठ २३

क्या मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है ?

गोपाल—पिता जी ! क्या मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है ?

पिता—स्वतन्त्र है, तभी तो यह व्यवस्था है कि "ऐसा करो और ऐसा मत करो"। कर्मों का अच्छा-बुरा फल प्राप्त होने की व्यवस्था भी इसीलिए है। यदि पराधीन हो तो यह बातें नहीं हो सकतीं। पशुओं पर कर्मों के फल और विधि-निषेध की व्यवस्था लागू नहीं होती। मनुष्य बुद्धिमान् प्राणी है। वह अपने विचार से इस बात का निर्णय करता है कि "मैं अमुक काम करूँगा, अमुक नहीं करूँगा"। इससे स्पष्ट है कि वह कर्म करने में स्वतन्त्र है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से ऊँचा चढ़ सकता है और अपने ही कर्मों से गिर सकता है (देखो गीता अध्याय ६ श्लोक ५—६)।

गोपाल—आम लोगों की तो यह धारणा है कि मनुष्य के किये से कुछ नहीं होता, करने-करानेवाला सब ईश्वर है।

पिता—इसी उलटी समझ से तो हमारे देश के लोग परावलम्बी और पराधीन होगये और इस देश की इतनी गिरावट होगई। गीता ऐसा नहीं मानती। गीता कहती है कि "ईश्वर लोगों के कर्मों, कर्तापन और कर्मफल को नहीं रचता; स्वभाव ही बरत रहा है अर्थात् करने-करानेवाला सबका अपना-आप ही है।" (देखो गीता अध्याय ५ श्लोक १४)। वास्तव में ईश्वर को सब कुछ करने करानेवाला बतानेवाले लोग भी ईश्वर पर बिलकुल ही निर्भर नहीं रहते, केवल ज़बानी जमा-खर्च करके लोगों को और अपने आपको भी धोखा देते हैं।

पाठ २४

प्रारब्ध

गोपाल—पिता जी! बहुत से लोग कहते हैं कि मनुष्य के किये कुछ नहीं होता; जैसा प्रारब्ध होता है, वैसा ही होता है।

पिता—प्रारब्ध भी अपना ही बनाया हुआ होता है। वर्तमान से पहले किये हुए कर्मों का फल प्रारब्ध है। इसलिये कर्मों का फल भोगना तो प्रारब्ध के आधीन हो सकता है, परन्तु कर्म करने में प्रारब्ध की कोई आधीनता नहीं है।

गोपाल—फल तो प्रारब्ध के अनुसार सबको ही भोगना पड़ता होगा। उससे छुटकारे का भी कोई रास्ता है या नहीं?

पिता—पहिले के बुरे कर्मों के बुरे फल को मिटाने के लिए वर्तमान में उससे जबरदस्त अच्छे कर्म किये जायँ तो उस बुरे फल को मिटाया अथवा घटाया जा सकता है; और पहले के अच्छे कर्मों के अच्छे फल को वर्तमान के बुरे कर्मों द्वारा घटाया या मिटाया जा सकता है। सबकी एकता का दृढ़ निश्चय होकर अपने व्यक्तित्व का भाव जिनका मिट जाता है, उनके सभी कर्म नष्ट होजाते हैं (देखो गीता अध्याय ४ श्लोक ३७)।

गोपाल—इस श्लोक का अर्थ तो लोग यह करते हैं कि प्रारब्ध-कर्म के सिवाय और सब कर्म भस्म होजाते हैं।

पिता—इस श्लोक में ऐसा भाव कहीं भी नहीं है। सारी गीता में कहीं भी दूसरे कर्मों से अलग प्रारब्ध-कर्म का उल्लेख नहीं है। जब पृथक् व्यक्तित्व का भाव ही नहीं रहा, तो प्रारब्ध-कर्म किस पर लागू पड़ेंगे?

गोपाल—बहुत से ज्ञानी तथा महात्माओं को जब दुःख-सुख भोगते देखा जाता है, तब वे कहते हैं कि प्रारब्ध का भोग है।

पिता—यदि उनको दुःख-सुख वाधा देते हैं, तो वे ज्ञानी नहीं हैं। यदि ज्ञानी हैं, तो लोगों की दृष्टि में उनको सुख-दुःख का होना प्रतीत होता हो, तो भी उनके अन्तःकरण में सुख-दुःख की कोई वाधा नहीं होती।

पाठ २५

ईश्वर ने संसार क्यों बनाया ?

गोपाल—पिता जी ! यदि ऐसा ही है तो ईश्वर ने सुख-दुःख आदि से पूर्ण इस संसार को बनाया ही क्यों ?

पिता—गोपाल ! मैं पहिले ही कह आया हूँ कि जगत् को बनानेवाला कोई ईश्वर उससे पृथक् नहीं है।

गोपाल—गीता के आठवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा है कि हज़ार युगों का ब्रह्मा का दिन और हज़ार युगों की रात होती है। दिन होने पर अव्यक्त प्रकृति से सब सृष्टि उत्पन्न होती है और रात होने पर लय हो जाती है। इसी प्रकार नवमें अध्याय में कहा है कि मैं कल्प के आदि में लोगों को रचता हूँ और कल्प के अन्त में वे मेरी प्रकृति में लय हो जाते हैं।

पिता—मैं पहिले बता चुका हूँ कि भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने को सबका आत्मा कहा है, दूसरों से अलग व्यक्ति नहीं कहा है। वह सबका आत्मा ही अपरा और परा प्रकृति भाव से जगत् रूप होता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए आठवें और नवमें अध्याय के सृष्टि-रचना विषयक श्लोकों का यह अभिप्राय निकलता है कि सब के आत्मा-परमात्मा की इच्छा अथवा सङ्कल्प ही की ब्रह्मा अथवा प्रकृति संज्ञा है। जब आत्मा में सङ्कल्प होता है, तब वह सृष्टि रूप से व्यक्त होता है; और जब सङ्कल्प लय होजाता है, तब सृष्टि का लय होजाता है। यह अनुभव प्रत्येक मनुष्य को भी नित्य प्रति होता है। जागृत और स्वप्न अवस्थाओं में जब मन की क्रिया होती है,

तब मनुष्य अपने-अपने व्यवहार करते हैं। जब गहरी नींद आती है, तब मन क्रिया-रहित होजाता है और तब सब व्यवहार बन्द हो जाते हैं। उस समय कुछ भी नहीं रहता। जो दशा प्रत्येक शरीर अथवा पिण्ड की है, वही जगत् अथवा ब्रह्माण्ड की है।

गोपाल—पहिले पहल यह संसार कब हुआ?

पिता—यह संसार अनादि है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि संसार पहिले पहल कब हुआ? यह निरन्तर होता और मिटता रहता है। नदी के प्रवाह की तरह इसका प्रवाह चलता ही रहता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी सृष्टि बनाता और मिटाता रहता है। यह चक्कर सदा ही चलता रहता है। इसका कोई आदि और अन्त नहीं है (देखो गीता अध्याय १५ श्लोक ३)।

पाठ २६

आत्मा अनेक भाव होने के दुःखदायी बखेड़े क्यों करता है?

गोपाल—पिता जी! जब जीवात्मा और परमात्मा एक ही है और वह सम तथा स्वतन्त्र है, तो वह एक से अनेक होकर नाना प्रकार के शरीर धारण करने के कष्ट क्यों उठाता है? और बन्धनों में क्यों बँधता है?

पिता—एक से अनेक होने की इच्छा स्वाभाविक है। यह बात प्रत्यक्ष ही है कि प्रत्येक प्राणी में एक से अनेक होने की इच्छा होती है। इसलिए नर और मादा के रूप से दो होकर फिर अनेक हो जाते हैं। जब कि मैं कहता हूँ कि जो कुछ है सब आत्मा ही है, आत्मा के सिवाय कुछ भी नहीं है, तो तुम भी आत्मा ही हो, इसलिए तुम खुद ही विचारो कि मैंने जीव बनकर शरीर क्यों धारण किया, और एक से अनेक होने की इच्छा मुझमें क्यों होती है? जब एक से अनेक होनेवाला सब का अपना-आप ही है, तो इस बात का समाधान अपने-आप ही के अनुभव से हो सकता है कि मैं एक से अनेक क्यों

हुआ और क्यों होता हूँ ? परन्तु यदि तुम अपने को आत्मा मानने को तैयार नहीं हो, और परमात्मा अथवा परमेश्वर को अपने से अलग मानते हो तो उसके पास जाकर पूछो कि तुम यह बखेड़े क्यों करते हो ? यदि कोई आलसी पुरुष एक कार्य-कुशल राजा के विषय में यह शङ्का करे कि राजा होकर वह काम-काज और खेल-कसरत आदि क्यों करता है ? तो वह या तो राजा के समीप पहुँच कर पूछे या जिन लोगों की पहुँच राजा तक हो और जो लोग राजा के कामों का रहस्य जानते हों, उनके कहने पर विश्वास करे। घर में बैठे हुए शङ्काएँ करने से समाधान नहीं हो सकता।

गोपाल—आप तो अपने को आत्मा मानते हैं, तो आप ही बताइए कि आप ये बखेड़े क्यों करते हैं ?

पिता—क्योंकि मेरी ऐसी इच्छा है। यह खेल करना मुझे अच्छा लगता है और यह खेल नाना रूप होने से ही होता है। निरन्तर बदलते रहनेवाले नाना रूपों के बिना खेल हो ही नहीं सकता। मुझे इसमें कोई बखेड़ा, कष्ट या बन्धन भी प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वास्तव में इसमें दुःख अथवा बन्धन है नहीं। दुःख और सुख दोनों का जोड़ा है। जहाँ दुःख है वहाँ सुख भी होता है, और जहाँ सुख है वहाँ दुःख भी होता है। इसी तरह बन्धन और मोक्ष का भी जोड़ा है। मैं आत्मा (दुःख और सुख अथवा बन्धन और मोक्ष) दोनों में हूँ। इसलिए यह दोनों विरोधी भाव मुझमें एकत्र होने से आपस में कट-कर सम अर्थात् शान्त होजाते हैं। दोनों में से किसी एक का भी स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता। जब कि सब कुछ मैं ही हूँ, तो दुःख और सुख अथवा बन्धन और मोक्ष आदि मुझसे पृथक् कोई ऐसी वस्तु ही नहीं रहती कि जो मुझे बाधा दे। वास्तव में जीव-भाव अथवा शरीर-भाव साधारण अज्ञानी लोगों को भी केवल दुःखदायक प्रतीत नहीं होते; यदि ऐसा होता तो कोई जीवित रहना ही नहीं चाहता। परन्तु गरीब से गरीब और दुःखी से दुःखी मनुष्य तथा पशु-पक्षी भी मरना नहीं

चाहता। इससे स्पष्ट है कि यथार्थ में शरीर और संसार को केवल दुःख रूप कोई भी नहीं समझता, क्योंकि वे दुःख रूप हैं ही नहीं। मूर्खता से ही लोग ऐसा कहते हैं।

गोपाल—जब आत्मा अपनी इच्छा से ही एक से अनेक रूप बनता है, तो फिर उसमें दुःख और बन्धन क्यों मानता है ?

पिता—यही तो भूल, भ्रम अथवा अज्ञान है; इसी को मिटाना चाहिये।

गोपाल—पिताजी ! सत्, चित्, आनन्द स्वरूप आत्मा में यह भूल क्यों और कैसे आई ?

पिता—इसका पता भूल मिटाने से अपने आप ही लग जायगा। मनुष्य जब तक इस भूल में रहता है, तब तक इसका पता नहीं लग सकता। जब तक मनुष्य स्वप्न में होता है, तब तक वह स्वप्न के कारण का पता नहीं लगा सकता। जागने ही से स्वप्न के विषय में जान सकता है कि यह सब अपने ही मन की कल्पना थी, और कुछ नहीं था। जो लोग अपने मन बहलाने के लिए अपनी खुशी से शराब आदि नशा लेकर बावले हो जाते हैं तो जब तक नशा न उतरे, तब तक वे बावले और व्याकुल रहते हैं। परन्तु जब नशा उतर जाता है तब वे समझ लेते हैं कि हम अपनी ही इच्छा से नशा लेकर बावले हुए थे। नशे का बावलापन भी हमारी अपनी ही रचना थी। इसी तरह आत्मा जब तक अपने रचे हुए संसार-रूपी खेल के मोह में उलझा रहता है, तब तक अपने को दुःखी और बन्धा हुआ मानता है। जब अपने आपका यथार्थ अनुभव होजाता है, तब वह समझ लेता है कि यह भूल भी मेरी ही कल्पना थी। वास्तव में भूल, भ्रम अथवा अज्ञान कोई सदा बने रहनेवाला स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है कि जिसके लिए यह विचार किया जाय कि यह कैसे और कहाँ से आये।

गोपाल—जब आत्मा अथवा परमात्मा और सारे जगत् की एकता है तो एक व्यक्ति को भूल, भ्रम अथवा अज्ञान होने से सब को

वह होना चाहिये; और एक व्यक्ति को अपने आपका यथार्थ अनुभव होने से सब को वह अनुभव हो जाना चाहिये और सब की भूल मिट जानी चाहिये।

पिता—बेटा! भूल या भ्रम या अज्ञान आत्मा का धर्म नहीं है कि जो सर्वत्र रहे। यद्यपि आकाश सर्वत्र एक ही है, परन्तु किसी जगह बादलों के होने से सारा आकाश बादलों से नहीं छा जाता, अथवा समुद्र में किसी एक स्थल पर तूफ़ान होने से सारा समुद्र तूफ़ानमय नहीं हो जाता। वर्तमान में भौतिक विज्ञान ने प्रत्यक्ष दिखला दिया है कि बिजली की सूक्ष्म शक्ति पृथ्वी के इर्द-गिर्द सर्वत्र व्यापक है; परन्तु जहाँ रेडियो यन्त्र होता है, वहीं उसके द्वारा दूर के शब्द सुनाई देते हैं और दूर के दृश्य दिखाई देते हैं। जहाँ रेडियो यन्त्र नहीं होता, वहाँ ऐसा नहीं होता। बिजली की सूक्ष्म शक्ति में सर्वत्र शब्द और दृश्य प्रतीत नहीं होते। इसी तरह यद्यपि आत्मा सर्वत्र एक ही है, परन्तु उसके किसी अंश में भूल या भ्रम होने पर वे उसमें सर्वत्र नहीं होते।

गोपाल—पिता जी! यह तो आपने जड़ वस्तुओं के दृष्टान्त दिये। आत्मा तो चेतन है, उस पर यह कैसे घटेंगे।

पिता—मैं पहले ही कह चुका हूँ कि जो कुछ है सब आत्मा ही है। जड़ भी वही है, और चेतन भी वही है। जड़ की अपेक्षा से वह चेतन कहा जाता है; नहीं तो उसमें जड़-चेतन का भेद नहीं है। यदि चेतन के दृष्टान्त से ही तुम्हें सन्तोष हो तो राष्ट्र का दृष्टान्त ले लो। एक राष्ट्र के अनेक व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न स्थिति और अलग-अलग पेशे होते हैं। कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई धनी, कोई ग़रीब, कोई विद्वान्, कोई मूर्ख, कोई ज़मीदार, कोई मज़दूर, कोई व्यापारी, कोई सैनिक आदि आदि; परन्तु वह सारा राष्ट्र किसी व्यक्ति के सुखी होने से सुखी नहीं होता और दुःखी होने से दुःखी नहीं होता; धनी होने से धनी नहीं होता और ग़रीब होने से ग़रीब नहीं होता; न वह राष्ट्र विद्वान् होता है, न मूर्ख; न ज़मीदार होता है, न मज़दूर;

न व्यापारी होता है, न सैनिक। राष्ट्र में सब की एकता होती है। इसलिए वह सब कुछ होता है और सब का समावेश उसमें होता है। परन्तु राष्ट्र किसी खास स्थिति अथवा गुण में परिमित नहीं होता। इसी तरह आत्मा में अनेक भाव होते हुए भी, वास्तव में वह किसी खास गुणयुक्त नहीं होता। सर्वत्र एकता होने के कारण वह सम और निर्विकार ही रहता है।

पाठ २७

जन्म और मरण किसका होता है ?

गोपाल—पिता जी ! जब कि आत्मा एक, सम और स्वतन्त्र है तो फिर वह अलग-अलग जन्म कैसे लेता और मर कर नाना योनियों में कौन जाता है ?

पिता—बेटा ! एक ही आत्मा अनेक भाव धारण करता है। उसका जो भाव पृथकता के अहङ्कार से अपने को मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि के समूह में रुका हुआ मानता है, वही वासनामय सूक्ष्म शरीर से अपनी वासना के अनुसार नाना स्थूल-रूप धारण करता और छोड़ता रहता है। इनको ही जन्म और मरण कहते हैं; और वह वासनामय सूक्ष्म शरीर ही सुख-दुःख भोगने का अनुभव करता है।

गोपाल—उन वासनामय सूक्ष्म शरीरों में आत्मा होता है कि नहीं ?

पिता—आत्मा तो सर्वत्र है ही। आत्मा ही अपनी इच्छा से अनन्त सूक्ष्म और स्थूल रूप धारण करता है। आत्मा ही की सत्ता से सब शरीरों का अस्तित्व है। परन्तु आत्मा किसी खास शरीर अथवा शरीरों के समूह में रुका हुआ अथवा परिमित नहीं है; किन्तु अनन्त शरीर-रूप होने पर भी वह उन शरीरों के बाहर भी होता है और शरीर न रहने पर भी उसका अस्तित्व सर्वत्र बना

ही रहता है। जिस तरह आकाश में बादल होते और मिटते रहते हैं और बादलों में आकाश ठसाठस भरा हुआ रहता है, परन्तु आकाश बादलों में रुका हुआ नहीं रहता; बादलों के होने और न होने पर भी आकाश ज्यों का त्यों बना रहता है; उसी तरह आत्मा सब के अन्दर ठसाठस भरा हुआ भी किसीमें रुका हुआ नहीं है। वासनामय सूक्ष्म शरीर के जन्म-धारण करने और छोड़नेपर भी आत्मा में जन्मना, मरना अथवा कहीं आना-जाना नहीं होता। जिस तरह भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में रहनेवाले लोग सभी भारतवासी होते हैं। एक प्रान्त के निवासी दूसरे प्रान्त में जाकर रहें तो उनके नाम और वेप आदि बदलने पर भी वे भारतवासी ही रहते हैं और भारत के अन्दर ही रहते हैं। बंगाली अगर सिंध में जाकर रहे तो वह सिन्धी का रूप धरकर सिन्धी कहलाता है, परन्तु वास्तव में वह भारतवासी और भारत के अन्दर ही होता है। इसी तरह वासनामय सूक्ष्म शरीर नाना स्थूल शरीरों के धारण करने और छोड़ने पर भी सब आत्मा-रूप और आत्मा के अन्तर्गत ही होते हैं।

गोपाल—जब आत्मा नाना भावों और नाना शरीरों में बँट जाता है और वे नाना भाव जन्म-मरण के चक्कर में घूमते हैं तो क्या आत्मा के अलग-अलग टुकड़े नहीं हो जाते?

पिता—टुकड़े तो जब होते कि वह किसी विशेष-भाव में रुका हुआ रहता अथवा किसी विशेष देश, काल अथवा वस्तु में परिमित होता। टुकड़े परिमित और स्थूल वस्तु के होते हैं। आकाश सूक्ष्म, व्यापक और अपरिमित है, इसलिए उसके टुकड़े नहीं होते। आत्मा तो आकाश से भी सूक्ष्म, व्यापक और अपरिमित है। वह आकाश का भी आधार है। उसके बिना कोई देश, कोई काल, और कोई वस्तु नहीं है, इसलिए उसके टुकड़े कैसे हों?

पाठ २८

मोक्ष क्या है ?

गोपाल—पिता जी ! जब सब कुछ अपने मन ही की कल्पना है, तो फिर मोक्ष क्या वस्तु है ?

पिता—अपने मन की कल्पना से उत्पन्न अनेकता के भावों से जो दुःख और बन्धन प्रतीत होते हैं, उनको सब की एकता के दृढ़ निश्चय से मिटाकर स्वतन्त्रतापूर्वक जगत् में साम्य-भाव से व्यवहार करना और सब के हित में लगे रहना ही मोक्ष है (देखो गीता अध्याय ५ श्लोक १९ से २६ तक)।

गोपाल—पिता जी ! चिन्ता, शोक, भय, रोग, बुढ़ापा, जन्म, मरण आदि नाना प्रकार के दुःखों से भरे हुए शरीर के रहते मोक्ष कैसे हो सकता है ? मोक्ष तो शरीर छूटने पर ही होता है।

पिता—यह तुम्हारा भ्रम है। यदि शरीर छूटने से ही मोक्ष होता हो, तो मरने पर सभी मोक्ष को पहुँच जाते; पर मोक्ष प्राप्त हुओं के समाचार तो आज तक नहीं आये। मरने के बाद मोक्ष मानना बहुत भारी धोखा है। मरने के बाद जब शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अनुभव करनेवाले कोई साधन ही नहीं रहते, तो मोक्ष का अनुभव करेगा कौन ? मरने के बाद के मोक्ष के धोखे में न रहकर इसी शरीर में मोक्ष के अनुभव का उपाय कर लेना चाहिये। मोक्ष और स्वतन्त्रता एक ही बात है। जिसको जितना ही सब की एकता के साम्य-भाव का अधिक अनुभव होता है और वह अनुभव जितना ही अधिक स्थायी होता है, उतना ही वह अधिक स्वतन्त्र या मुक्त होता है। फिर चिन्ता, शोक, भय, रोग, बुढ़ापा, जन्म, मरण आदि के दुःख उसे कुछ भी बाधा नहीं देते। यह बात अवश्य है कि पूर्णता एक जन्म में होनी कठिन है, वह अनेक जन्मों के अभ्यास से प्राप्त होती है। परन्तु जो इस समत्व-योग में लग जाता है, उसके दूसरे जन्म

भी उत्तरोत्तर उन्नत होते हैं और उन्नति करता-करता वह पूर्ण मुक्त हो जाता है। उसमें लगा हुआ कभी गिरता नहीं (देखो गीता अध्याय ६ श्लोक ४० से ४५ तक)।

गोपाल—पिता जी! मोक्ष होजाने पर फिर वह मुक्त पुरुष जन्म-मरण के चक्कर में आता है कि नहीं?

पिता—जब मुक्त हो चुका तो फिर जन्म-मरण के चक्कर में आने की परवशता कैसे रह सकती है? मोक्ष का अर्थ यही है कि मुक्त पुरुष को सबके साथ अपनी पूर्ण एकता का दृढ़ और अविचल अनुभव होता है, और जब पूर्ण एकता होगई तो आने-जाने के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता; सब कुछ उसी का रूप होजाता है। वह सब में परिपूर्ण परमात्मा स्वरूप होजाता है। फिर वह अपनी इच्छा से स्वतन्त्रता पूर्वक कोई विशेष शरीर धारण करे तो भी उसकी खुशी है। उसे न कोई रोकनेवाला है और न परवश करनेवाला। परन्तु शरीर धारण करने पर भी उसकी सर्वात्म-भाव में स्थिति बनी ही रहती है। उसके जन्म और कर्म दिव्य होते हैं, अर्थात् उनका उस पर कुछ भी विकार नहीं होता। अज्ञानी जीवों की तरह उसे परवशता, दुःख और बन्धन प्रतीत नहीं होते (देखो गीता अध्याय ४ श्लोक ९ से १४ तक)।

गोपाल—जब जन्म-मरण होता है तब दुःख और बन्धन कैसे नहीं होते? शरीरधारी को तो ये अवश्य ही होते हैं।

पिता—गोपाल! तुम प्रश्न तो मुक्त पुरुष के विषय में करते हो और साथ ही उसे अपनी स्थिति से बाहर जाने देना नहीं चाहते। मैं कह चुका हूँ कि मुक्त पुरुष स्वयं परमात्मा स्वरूप होजाता है, पर तुम उसको अपने जैसा ही एक अल्पज्ञ व्यक्ति मानकर फिर उसके दिव्य जन्मों और दिव्य कर्मों के रहस्य को समझना चाहते हो, सो यह परस्पर विरोधी बातें हैं। यदि वह तुम्हारे जैसा ही एक साधारण व्यक्ति हो तो फिर उसके विषय में इतनी चर्चा करने की आवश्यकता

ही क्या है ? आमतौर से लोग ऐसा ही करते हैं कि अपने व्यक्तित्व के अत्यन्त संकुचित दृष्टिकोण से आत्मा, परमात्मा अथवा आत्मज्ञानी जीवन-मुक्त महापुरुष की स्थिति को समझना चाहते हैं, सो हो नहीं सकता। उस स्थिति को समझने के लिए पृथक् व्यक्तित्व के भाव के दृष्टिकोण से ऊँचे उठकर सर्वात्म-भाव के दृष्टिकोण का चश्मा लगाने की आवश्यकता है। अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु खुर्दबीन के द्वारा ही देखी जासकती है, साधारण आँखों से नहीं दीख सकती। इसी तरह आत्मज्ञान-सम्बन्धी रहस्य को जानने के लिए बुद्धि को स्थूल जगत् के पदार्थों से परे अत्यन्त सूक्ष्म करने की आवश्यकता है। जब तक बुद्धि स्थूल जगत् के अनेक परिवर्तनशील, अतः झूठे पदार्थों में ही उलझी रहती है और उन झूठे पदार्थों को सच्चा मानते हुए, उस एक अपरिवर्तनशील एवं सत् वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है, तब तक उसमें सफलता कैसे हो सकती है ?

देखो, बेटा ! दुःख और बन्धन वहीं होता है जहाँ पृथक् व्यक्तित्व के भाव से विशेष शरीरों ही में आसक्ति होती है और दूसरों के साथ राग-द्वेष होते हैं। परन्तु जहाँ सर्वात्मभाव से जगत् की सुव्यवस्था के लिए शरीर धारण करके लोक-हित के व्यवहार किये जाते हैं, वहाँ ये कुछ भी नहीं होते। यदि कोई राजा या राष्ट्रपति अथवा कोई बड़ा ऑफ़िसर जेलखाने के सुप्रबन्ध के लिए जेलखाने में जाता है और क़ैदियों के हित के लिए उनकी कोठरियों में जाकर उनके रहन-सहन और कठोर कारावास का स्वयं अनुभव करता है, तो उसको अपराधी क़ैदियों की तरह जेलखाना दुःख और बन्धन रूप नहीं प्रतीत होता। इसी तरह सर्वात्मभावापन्न महापुरुष लोक-हित के लिए शरीर धारण करके जगत् के व्यवहार करता है, तो उसको दुःख या बन्धन नहीं प्रतीत होते। दुःख और बन्धन उससे पृथक् कुछ रहते ही नहीं।

पाठ २६

परलोक

गोपाल—पिता जी! अब यह बताइये कि मरने के बाद क्या होता है?

पिता—देखो, बेटा! मनुष्य जीवित अवस्था में जो कुछ कर्म शरीर से अथवा मन से करता है, उनके संस्कार उसके चित्त पर एकत्रित होते रहते हैं और उनके प्रभाव से मरते समय जिन भावों का स्मरण होता है, उन्हीं के अनुसार उसका भविष्य बनता है। यदि उसने अपने जीवन में अच्छे काम किये हैं, तो मरते समय अच्छे भाव उदय होंगे और मरने के बाद श्रेष्ठ गति को प्राप्त होगा। बुरे कर्म करनेवाले को बुरी गति प्राप्त होगी। श्रेष्ठ कर्म करनेवालों को फिर से मनुष्य शरीर और सुख के साधन प्राप्त होंगे। निकृष्ट कर्म करनेवालों को हीन योनियाँ और दुःख के साधन प्राप्त होंगे। मनुष्य शरीर में जैसे कर्म किये जाते हैं उन्हीं के अनुसार आगे की नाना प्रकार की योनियाँ एक के बाद दूसरी प्राप्त होती रहती हैं।

गोपाल—स्वर्ग और नरक क्या हैं और कहाँ हैं?

पिता—स्वर्ग और नरक मनके सूक्ष्म भाव हैं। मन ही अपने कर्मानुसार स्वर्ग और नरक की कल्पना करता है और सूक्ष्म शरीर से उनके कल्पित भोग भोगता है। जिस तरह स्वप्नावस्था में मन नाना प्रकार के बनाव करता है और भोग भोगता है तथा अपने को सुखी या दुःखी अनुभव करता है, उसी तरह स्थूल शरीर छूटनेपर मन ही वासनामय सूक्ष्म शरीर से अपनी कल्पना के अनुसार स्वर्ग या नरक का बनाव करके उनके सुख या दुःख भोगता है। जो लोग दूसरे जन्म में स्वर्गादि सुखों की कामनासे परोपकारादि शुभ कर्म करते हैं, उनका मन उन शुभ कर्मों के प्रभाव से मरने के बाद अपने लिए स्वर्ग की रचना कर लेता है, और जो लोग दूसरों को पीड़ा देनेवाले कुकर्म करते हैं, उनका मन

अपने मलीन भावों के कारण मरने के बाद दुःखदायी नरकों की कल्पना करके उनके दुःख भोगता है।

गोपाल—गीता के आठवें अध्याय के अन्त में मरने के बाद शुक्ल और कृष्ण रूप दो गतियों का वर्णन है। वहाँ कहा है कि शुक्ल गति में जानेवाला वापस नहीं लौटता और कृष्ण गति में जानेवाला वापस आकर जन्म लेता है। वहाँ पर ब्रह्मलोक आदि लोकों का भी उल्लेख है। इसका क्या तात्पर्य है?

पिता—शुक्ल और कृष्ण गतियों का जो वर्णन है, वह गीता का अपना मत नहीं है। पूर्व काल में लोग ऐसा मानते थे कि परमात्मा की भेदोपासना करनेवाला मरने के बाद शुक्ल गति से होकर परमात्मा को प्राप्त होता है, फिर लौट कर जन्म-मरण के चक्कर में नहीं पड़ता, और वैदिक कर्मकाण्ड में लगे रहनेवाला कृष्ण गति से होकर चन्द्रलोक जाकर, फिर लौट कर लोक में जन्म लेता है। गीता के आठवें अध्याय के २६वें और २७वें श्लोक में यह स्पष्ट कर दिया है कि जगत् में ऐसी मान्यता चली आरही है, परन्तु सबकी एकता के साम्य-भाव का पूर्ण रूप से आचरण करनेवाला समत्व-योगी इस मान्यता की उलझन में नहीं पड़ता। वह यहां का यहां ही जीवनमुक्त होकर स्वयं परमात्म-भाव में स्थित हो जाता है। उसके लिए कहीं आना-जाना शेष नहीं रहता। आना-जाना अपने से कुछ जुदा हो, तब होता है। जहाँ सर्वत्र एकता हो जाती है, वहाँ कौन कहाँ जावे और कौन कहाँ आवे? जब तक किसी लोक में जाने का भाव रहता है, तो वहाँ से आना भी पड़ता है; चाहे वह ब्रह्मलोक हो या और कोई लोक (देखो गीता अध्याय ८ श्लोक १६)। चन्द्रलोक, वैकुण्ठलोक, गौलोक, ब्रह्मलोक आदि भी सब कल्पनामय ही हैं।

—

पाठ ३०

श्राद्ध पर गीता का मत

गोपाल—अच्छा, पिताजी ! अब यह बताइये कि मरे हुए पितरों के निमित्त हम हिन्दू लोग जो श्राद्ध करते हैं, उस विषय में गीता का मत क्या है ?

पिता—मरे हुए पितरों के निमित्त पितृ-कर्म करनेवालों की तामसी श्रद्धा कही गयी है (देखो गीता अध्याय १७ श्लोक ४); परन्तु श्राद्ध केवल हिन्दू ही नहीं करते, रूपान्तर से प्रायः सभी लोग करते हैं। मरे हुए लोगों की बरसी, शताब्दी, अर्द्धशताब्दी आदि के दिन सभी मजहबों और सभी समाजों के लोग उनकी याद करके रोते, चिल्लाते और शोक मनाते हैं। मकबरों और चित्रों आदि पर पुष्प व हार आदि चढ़ाते और कई प्रकार के उत्सव आदि करते हैं। यह रूपान्तर से श्राद्ध ही तो हैं।

पाठ ३१

तप या शिष्टाचार

गोपाल—जो लोग शरीर को अनेक प्रकार के कष्ट देकर भावी सुखों के लिए तपस्या करते हैं, उनकी दूसरे जन्म में क्या गति होती है ?

पिता—गीता ने शरीर को कष्ट देनेवाले तपों की बहुत निन्दा की है। भूखे-प्यासे मरने, सर्दी-गरमी के कष्ट सहने, औंधे लटकने, सूलियों पर सोने आदि नाना प्रकार की काया को क्लेश देनेवाली तपस्याओं को तामसी तप कहा है, और ऐसे तप करनेवालों को आसुरी प्रकृति का बताया है। इसलिए गीता के अनुसार इनकी वही गति होती है, जो असुरों की होती है।

गोपाल—अठारहवें अध्याय के ५वें श्लोक में तप को भी आवश्यक कर्तव्य और मनुष्य को पवित्र करनेवाला कहा है ।

पिता—वह तप कौन सा है, इसका खुलासा पहिले ही सतरहवें अध्याय में किया गया है। माता, पिता, गुरु आदि देवों, सात्विक गुणों-वाले ब्राह्मणों, बड़ों और बुद्धिमान पुरुषों की पूजा करना, पवित्र रहना, सरलता रखना, ब्रह्मचर्य से रहना, किसी को पीड़ा न देना, सच्ची, मीठी और हितकर वाणी बोलना, विद्या पढ़ना, मन को प्रसन्न, शान्त, शुद्ध और संयम में रखना आदि शिष्टाचार ही को गीता ने तप माना है। ये शिष्टाचार सभी मनुष्यों के लिए आवश्यक कर्तव्य हैं। यह मनुष्य को पवित्र करते हैं। शरीर को कष्ट देनेवाले तामसी तपों से कौन सी पवित्रता होती है ? वे तो इस जन्म में तथा दूसरे जन्म में सदा क्लेश ही देते हैं।

गोपाल—क्या गीता में व्रतोपवास आदि को भी तामसी तप माना है ?

पिता—जबरदस्ती भूखे-प्यासे रहने से शरीर को कष्ट होता है और वह कृश होता है और मन विक्षिप्त रहता है, जिससे वह एकाग्र नहीं हो सकता। इसलिए गीता में इनका निषेध है। मन को एकाग्र करने के लिए गीता में नियमित आहार-विहार का विधान किया गया है (देखो गीता अध्याय ६ श्लोक १६ और १७)

पाठ ३२

दान

गोपाल—गीता में दान देने का जो विधान किया गया है, क्या वह स्वर्ग प्राप्ति के लिए नहीं है ?

पिता—किसी भी फल की प्राप्ति के उद्देश्य से या स्वयं कष्ट पाकर दान देने को गीता में राजस दान कहा है।

गोपाल—जब फल के उद्देश्य से दान देना मना है, तो फिर दान दिया ही क्यों जाय ? बिना उद्देश्य के तो कोई काम बन नहीं सकता।

पिता—दान के विधान के मुख्य दो प्रयोजन हैं। एक तो दाता को पदार्थ त्यागने का अभ्यास होता है, जिससे उसकी ममत्व की आसक्ति कम होती है; और दूसरा जिन लोगों के पास अपनी वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन न हों और जिनमें अपनी उन्नति करने की सामर्थ्य न हो, उनको दूसरे लोग सहायता देकर उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति और उन्नति कराने में सहयोग दें, ताकि समाज में अनुचित विषमता जन्य अव्यवस्था और अशान्ति उत्पन्न न हो।

इसलिए दान देना अपना कर्तव्य समझकर किसी भी तरह के फल के उद्देश्य के बिना देश, काल और पात्र का विचार करके जो दान दिया जाता है, वह सच्चा दान है। वैसा ही दान देने का गीता में विधान है।

गोपाल—देश, काल और पात्र से मतलब ग्रहण, सोमवती, संक्रान्ति आदि पर तीर्थ-स्थानों में पण्डे-पुरोहितों, साधु-संन्यासियों आदि को दान देने का होगा ?

पिता—नहीं, गीता में इस तरह के अन्धविश्वास के लिए स्थान ही नहीं है। देश, काल और पात्र का तात्पर्य यह है कि जिस देश और जिस काल में जिस व्यक्ति को जिस वस्तु की अत्यन्त आवश्यकता हो और जिसके बिना वह कष्ट पाता हो अथवा जिस वस्तु के प्राप्त होने से वह अपनी उन्नति एवं अपना तथा दूसरों का हित कर सकता हो, वैसा दान करना चाहिये।

पाठ ३३

श्रद्धा

गोपाल—पिता जी ! जब आप यह कहते हैं कि गीता में अन्धविश्वास को स्थान ही नहीं है, तो फिर उसमें बार-बार श्रद्धा के ऊपर जोर क्यों दिया गया है ?

पिता—देखो गोपाल! संसार का प्रत्येक काम श्रद्धा के आधार पर होता है। किसी भी काम के लिए पहिले श्रद्धा अथवा विश्वास करना पड़ता है। जब बालक विद्या पढ़ता है, तो गुरु पर विश्वास करके ही उसके बताये हुए अर्थ को मानता है। हम लोग जब कभी किसी व्यवसाय में प्रवृत्त होते हैं, तो किसी न किसी की कही हुई अथवा लिखी हुई अथवा दूसरों की अनुभव की हुई बात पर विश्वास करके ही प्रवृत्त होते हैं। परन्तु एक बार श्रद्धा करके किसी काम में प्रवृत्त होने के बाद फिर उसके साथ विचार जोड़ना आवश्यक है। विचार के बिना सदा श्रद्धा-विश्वास के ही आधार पर चलते रहना यह मनुष्यता नहीं, किन्तु पशुपन है। मनुष्य में पशु से यही तो विशेषता है कि मनुष्य में बुद्धि द्वारा विचार करने की योग्यता होती है। जो मनुष्य अपनी बुद्धि से काम न लेकर केवल दूसरों के विश्वास ही पर सदा चलता रहता है, उस अन्ध-विश्वासी को एक प्रकार का पशु ही समझना चाहिये। गीता में किसी काम में प्रवृत्त होने के लिए श्रद्धा को अवश्य महत्व दिया है; परन्तु उसी के साथ बुद्धि-योग को उससे भी अधिक महत्व दिया है। इससे स्पष्ट है कि गीता में अन्ध-श्रद्धा को स्थान नहीं है।

पाठ ३४

एकता और समता के ज्ञान से व्यवहार कैसे हो सकता है?

गोपाल—जब सब में एकता और समता का ही अनुभव किया जाय, तो संसार के सभी व्यवहार बन्द हो जायँगे। मनुष्य और पशु, स्त्री और पुरुष, माता और पत्नी, शत्रु और मित्र, अपने और पराये, ऊँच और नीच, भले और बुरे के साथ एकता और समता का व्यवहार बन ही नहीं सकता।

पिता—बेटा! एकता और समता के ज्ञान ही से संसार के व्यवहार अच्छी तरह होते हैं। अनेकता और विषमता के ज्ञान से तो

सब व्यवहार बिगड़ते हैं, जैसे कि वर्तमान समय में बिगड़ रहे हैं। जैसे एक ही शरीर के जुदे-जुदे अङ्ग होते हैं—कई मन, बुद्धि आदि सूक्ष्म, कई हाथ, पाँव आदि स्थूल; कई आँख, नाक आदि उत्तम पवित्र और प्रगट; कई इन्द्रिय, गुदा आदि कनिष्ठ, मलिन और गुप्त; कई जीभ, त्वचा आदि कोमल; कई दाँत, नख आदि कठोर; ऐसे ही भिन्न-भिन्न गुणोंवाले अनेक अङ्ग होते हैं। इन जुदे-जुदे अङ्गों के अलग-अलग व्यवहार होते हैं और उनके आपस में व्यवहार करने के भिन्न-भिन्न प्रकार होते हैं, परन्तु वे सब एक ही शरीर के अनेक अङ्ग होते हैं और सब एक ही समान आवश्यक और उपयोगी होते हैं। सब में चेतना एक ही है। सभी अङ्गों के दुःख-सुख सारे शरीर को एक समान प्रतीत होते हैं। यदि सब अङ्गों की एकता का ज्ञान न हो, तो शरीर के सारे व्यवहार ही बिगड़ जाँय। इसी तरह संसार में जो अनेक शरीर हैं, वे आपस में एकता और समता के ज्ञानपूर्वक अपने-अपने शरीर की योग्यता के व्यवहार, एक दूसरे से सहयोग रखते हुए करें, और एक दूसरे शरीर के साथ आपस के सम्बन्ध के अनुसार वर्ताव करें, तभी संसार के व्यवहार अच्छी तरह चल सकते हैं। प्रत्येक शरीर को वस्तुतः अलग-अलग जानकर व्यवहार करने से व्यक्तित्व का अहङ्कार बढ़ता है और व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए एक-दूसरे के साथ खींचा-तानी, राग-द्वेष, घृणा-तिरस्कार आदि के भाव होते हैं। इसीसे संसार दुःख-रूप बन जाता है। संसार में जितने प्राणी हैं, सबके शरीर उन्हीं पञ्च-भूतों के होते हैं और आत्मा सब में एक है ही। भेद केवल सत्व, रज और तम गुणों की कमी-बेशी से होता है। परन्तु गुणों की वह कमी-बेशी सदा एक सी नहीं रहती। कभी किसी गुण की विशेषता होती है, कभी किसी की (देखो गीता अध्याय १४ श्लोक १०)। इसलिए जो शरीर ऊँचा होता है, वह कभी नीचे भी गिर जाता है। जो नीचे जाता है, वह कभी ऊँचा भी चढ़ जाता है। कभी श्रेष्ठ से दुष्ट और दुष्ट से श्रेष्ठ हो जाता है। जो पदार्थ कभी सुख देता है, वह ही कभी

दुःख देता है; और जो दुःखदायक होता है, वही सुखदायक भी बन जाता है। जो शत्रु होता है, वह कभी मित्र भी बन जाता है और मित्र कभी शत्रु का रूप धारण कर लेता है। सारांश यह कि भेद सभी अस्थायी होते हैं। इसलिए नाना प्रकार के भेदों को झूठा और सब की एकता को सच्ची मानकर जिसकी जैसी योग्यता हो और जिसके साथ जैसा सम्बन्ध हो, उसके साथ उसी के अनुसार आचरण करना ही समता का व्यवहार है।

पाठ ३५

समदर्शन का खुलासा

गोपाल—पिता जी! ५ वें अध्याय के १८ वें श्लोक में "समदर्शन" शब्द है। इसी तरह और स्थानों पर "समपश्यन्" शब्द है। इससे तो सब में एक समान आत्मा देखना पाया जाता है। समता का व्यवहार नहीं पाया जाता।

पिता—आत्मा देखने का तो विषय ही नहीं है, और न आँखों से सब में समता दीख सकती है। यहाँ "दर्शन" और "पश्यन्" शब्दों का अर्थ जानना है और जिसको जैसा जाना जाता है, उसके साथ वैसा ही आचरण किया जाता है।

गोपाल—आजकल अपने को धर्मात्मा माननेवाले जो रुढ़िवादी लोग नीच जाति के स्त्री-पुरुषों के साथ घृणा, तिरस्कार और छूतछात का वर्ताव करते हैं, वे इन श्लोकों का "समता देखना" ही अर्थ निकालते हैं।

पिता—यह उन लोगों का हठधर्मी-पन है। मैं पहिले ही कह आया हूँ कि संसार में वस्तुतः कोई ऊँचा-नीचा अथवा छूत-अछूत नहीं है। मनुष्यों के गुणों के अनुसार काम करने के पेशे बनाये गये हैं। जिस गुण की जिसमें प्रधानता हो, उसे उसीके अनुसार पेशा करना चाहिये। गुणों के अनुसार ही रहन-सहन तथा खान-पान होना स्वाभाविक है।

पेशा कोई ऊँचा अथवा नीचा नहीं है। समाज की सुव्यवस्था के लिए सभी पेशे आवश्यक हैं। इसलिए किसी भी पेशे को हीन समझकर पेशे करनेवाले के साथ घृणा अथवा उसका तिरस्कार करने का अधिकार किसी को नहीं (देखो गीता अध्याय-३ श्लोक ३५)। यद्यपि मनुष्यों के खान-पान, रहन-सहन आदि उनके गुणों की योग्यता के अनुसार होते हैं; सात्त्विक प्रकृति के लोगों के लिए हलका व सूक्ष्म भोजन तथा कोमल वस्त्र आदि उपयुक्त होते हैं; तामसी प्रकृति के लोगों के लिए मोटा खाना तथा मोटा वस्त्र पहिनना उपयुक्त होता है; परन्तु शुद्ध भोजन, स्वच्छ जल तथा खुली वायु और रहने के लिये सुरक्षित स्थान आदि—साधारण जीवन के लिए उपयोगी सामान सब ही के लिए एक समान आवश्यक होते हैं। ठीक इसी प्रकार अपनी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति करने का मनुष्य (स्त्री-पुरुष) मात्र को एक समान अधिकार है। इनके लिये सब को एक समान सुविधाएँ रहनी चाहियें। किसी को हीन अथवा निर्बल समझकर इन अधिकारों पर रुकावटें नहीं होनी चाहियें।

गोपाल—पिता जी! वर्तमान समय में ऊँच जाति के अधिकार प्राप्त लोग हीन जाति के ग़रीबों को इन अधिकारों से भी वञ्चित रखते हैं और उन पर बहुत से अत्याचार करते हैं, यहाँ तक कि मनुष्योचित बर्ताव भी उनके साथ नहीं करते।

पिता—बेटा! वे लोग केवल हीन जाति के लोगों पर ही अत्याचार नहीं करते, वरन् स्वयं अपनी स्त्रियों पर भी इतने ज़ुल्म करते हैं कि उन्होंने उनको भी मनुष्यता के प्रायः सभी अधिकारों से वञ्चित कर रखा है। इसीसे तो इस देश की इतनी अधोगति हुई है।

गोपाल—ग़रीबों पर अत्याचार करने में तो इस समय का सभ्य समाज भी कुछ कम नहीं उतरता।

पिता—पुराने विचार के लोग धार्मिक अन्ध-विश्वास के कारण ग़रीबों पर अत्याचार करते हैं, और नई रोशनी के सभ्य लोग अपने

शारीरिक सुखों तथा मनोविनोद के लिए ग़रीबों को सताते और पशु-पक्षियों को कष्ट देते हैं। उन लोगों को दूसरों के कष्ट का अनुभव ही नहीं होता। वे केवल अपने भोग-विलास ही से मतलब रखते हैं।

पाठ ३६

आहार

गोपाल—पिता जी ! गीता में भोजन के जो तीन भेद किये गये हैं, क्या उनका यह तात्पर्य है कि सात्विक प्रकृति के लोग सात्विक भोजन करें; राजस और तामस प्रकृति के लोग राजस और तामस भोजन करें ?

पिता—नहीं, ऐसा विधान नहीं है। सात्विक, राजस और तामस प्रकृति के लोगों को जो जो भोजन प्यारे लगते हैं, उनका वर्णन है। अपनी उन्नति चाहनेवालों को सात्विक भोजन ही करना चाहिये, क्योंकि भोजन का प्रभाव मनुष्य के मन और बुद्धि पर पड़ता है। सात्विक भोजन करनेवालों के मन और बुद्धि सात्विक होते हैं, जिनसे उनकी उन्नति होती है। सत्व गुण ऊँचा उठानेवाला है (देखो गीता अध्याय १४ श्लोक १८)।

पाठ ३७

क्या मनुष्य अपने स्वाभाविक गुणों को बदल सकता है ?

गोपाल—क्या मनुष्य अपने स्वाभाविक गुणों को बदल सकता है ?

पिता—गुण ऐसे स्वाभाविक नहीं होते कि जन्मभर उनको बदला ही न जा सके। सात्विक भोजन तथा सात्विक आचरणों से मनुष्य रजोगुण व तमोगुण को दबाकर सत्व-गुण की वृद्धि कर सकता है। इसके विपरीत खान-पान और आचरणों से रजोगुण व तमोगुण को बढ़ा सकता है।

गोपाल—क्या गीता में मांस खाने का निषेध है ?

पिता—गीता में खाद्य पदार्थों के नाम से भोजन के भेद नहीं किये गये हैं। पदार्थों के गुणों से ही उनके सात्विक, राजस और तामस भेदों की व्याख्या की गयी है। गीता एक सार्वजनिक शास्त्र है; इसलिए यह मांसाहारियों तथा शाकाहारियों सब के लिए है। जो पदार्थ आयु, बुद्धि, बल, स्वास्थ्य, सुख और प्रेम बढ़ानेवाला हो, रसदार, चिकना, अधिक देर तक आधार देनेवाला और दिल को ताक़त देनेवाला हो, उसे सात्विक माना है। इसके विपरीत गुणों वाला राजस और तामस माना गया है।

पाठ ३८

साम्य-भाव के आचरण का खुलासा

गोपाल—पिता जी! सब की एकता के ज्ञानयुक्त साम्य-भाव के आचरण करनेवाले ज्ञानी पुरुष सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, सोना-मिट्टी, अनुकूल-प्रतिकूल, शत्रु-मित्र, अपने-पराये, अच्छे-बुरे आदि में सम रहते हैं—ऐसा गीता में जगह-जगह कहा गया है। तो क्या उनको इन विरोधी भावों में कोई भेद नहीं दीखता ? क्या वे सबके साथ एकसा ही प्रेम का वर्ताव करते हैं ?

पिता—आत्म-ज्ञानी समत्व-योगी ऐसा संज्ञाहीन अथवा कोई पत्थर का पुतला नहीं हो जाता कि जिसको जगत् के नाना प्रकार के बनावों की विचित्रता प्रतीत ही न हो। वह तो आत्म-ज्ञान और दृश्य पदार्थों के तात्त्विक विज्ञान में पूर्ण होता है। इसलिए उसे जगत् की इन भिन्नताओं का उतना ज्ञान होता है; जितना कि साधारण लोगों को होना सम्भव ही नहीं; परन्तु साधारण लोग इन भिन्नताओं के केवल बाहरी रूपों का इन्द्रिय जन्य ज्ञान रखते हैं, इसलिए उनको ही सत्य मानकर उनमें आसक्त और विक्षिप्त रहते हैं। परन्तु आत्म-ज्ञानी समत्व-योगी इन भिन्नताओं के बाहरी रूपों के इन्द्रिय-जन्य ज्ञान ही

पर निर्भर नहीं रहता, किन्तु इनके भिन्न-भिन्न गुणों, अलग-अलग योग्यताओं और इनके सूक्ष्म कारणों सहित इनकी भीतरी असलियत अर्थात् सब की आध्यात्मिक एकता का भी यथार्थ ज्ञान रखता है। इस प्रकार ज्ञान तथा विज्ञानयुक्त सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करता हुआ भी वह किसी में आसक्ति नहीं रखता। यद्यपि वह शरीर-रूप से ठण्डे और गरम, सुख और दुःख, मान और अपमान, अनुकूल और प्रतिकूल, अच्छे और बुरे आदि द्वन्द्वों की वेदनाएँ उसी तरह अनुभव करता है, जिस तरह कि दूसरे करते हैं। परन्तु उसकी बुद्धि में यह निश्चय रहता है कि अनुभव करनेवाला और किया जानेवाला वस्तुतः एक ही है। पृथक्ता के बनाव सदा बदलते रहते हैं, इसलिए वे कल्पित हैं। किसी अवस्था में सुख और मान आदि अहितकर होते हैं और किसी अवस्था में दुःख और अपमान आदि हितकर होते हैं। इसलिए उसके अन्तःकरण में अनुकूल-प्रतिकूल वेदनाओं का अनुभव होता हुआ भी वह उनसे प्रभावित नहीं होता। सोने और मिट्टी के उपयोग के भेद की दृष्टि से वह उनके भेद को अनुभव करता है, और उनका यथायोग्य उपयोग करता है, परन्तु वह उनको एक समान खनिज पदार्थ समझता है। उनके उपयोग और मूल्यादि सदा एक से नहीं रहते। किसी अवस्था में सोने का कोई उपयोग नहीं होता और उसका संग्रह दुःखदायी होता है, परन्तु मिट्टी बड़ी उपयोगी होती है। इसलिए उनकी उपयोगिता के भेद का अनुभव करता हुआ भी वह उनकी प्राप्ति या अप्राप्ति में हर्ष या विषाद नहीं करता। मित्रों के साथ उनकी भावना के अनुसार वह मैत्री का वर्ताव करता है। शत्रुओं के साथ उनकी भावना के अनुसार शत्रुता का वर्ताव करता है। बन्धुजनों के साथ प्यार और सहानुभूति का, आत्मीय जनों के साथ घनिष्टता तथा प्रीति का; सज्जनों के साथ उनके अनुकूल सौजन्य का और शठों के साथ उनके अनुकूल शठता का वर्ताव करता है, परन्तु वे वर्ताव उन भिन्न-भिन्न शरीरों के पूर्व तथा वर्तमान कर्मों के फल-स्वरूप

उनके स्वभाव तथा भावनाओं के अनुसार स्वतः ही होते हैं। इस विषय में उन लोगों की भावनाएँ ही भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्ताव का कारण होती हैं। समत्व-योगी अपनी तरफ़ से किसी के साथ कोई अच्छा या बुरा वर्ताव नहीं करता। उसके अन्तःकरण में न किसी से राग रहता है, न द्वेष और न उसे कोई व्यक्तिगत स्वार्थ ही होता है। इसलिए यदि वह किसी से कठोरता आदि का वर्ताव करता है, वो भी वह उसके तथा सब के हित के लिए ही होता है। द्वेषवश किसी की हानि करने के लिए नहीं होता। इसी प्रकार समत्व-योगी भिन्न-भिन्न प्रकार की अनुकूल-प्रतिकूल वेदनाओं का अनुभव करता हुआ तथा भिन्न-भिन्न लोगों के साथ उनके अनुकूल भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्ताव करता हुआ भी अन्तःकरण में सम और शान्त बना रहता है।

पाठ ३९

कर्मों के फल और उनके अच्छे-बुरेपन का खुलासा

गोपाल—पिता जी! आप कहते हैं कि समत्व-योगी मित्र के साथ मित्रता का, शत्रु के साथ शत्रुता का, सज्जन के साथ सज्जनता का और शठ के साथ शठता का वर्ताव करता है; और कर्म-विपाक के सिद्धान्त के अनुसार अच्छे और बुरे कर्मों का फल अवश्य होना चाहिये; फिर समत्व-योगी जब शत्रु के साथ शत्रुता का और शठ के साथ शठता का वर्ताव करता है तो उन बुरे कर्मों का फल भी उसे भोगना चाहिये।

पिता—गीता के नवें अध्याय के तीसरे श्लोक में कहा है कि "भूत-भावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः" अर्थात् जगत् की रचना सब कर्म-रूप है; अतः प्रत्येक व्यक्ति के कर्मों का प्रभाव और उनकी गति इतनी व्यापक और गहन है कि किसी भी कर्म के अच्छे-बुरे फल का निर्णय भेद-भाव की संकुचित दृष्टि से नहीं हो सकता (देखो गीता अध्याय ४ श्लोक १६ व १७)। साधारणतया कर्म में अच्छापन या

बुरापन कुछ भी नहीं होता। अच्छापन या बुरापन कर्ता के भाव पर निर्भर है। जो सब की एकता के ज्ञानयुक्त अपने शरीर की योग्यतानुसार जगत् के व्यवहार लोकसंग्रह के लिए यानी सबके हित के लिए करते हैं, उनके कर्म अच्छे हैं; और जो पृथक्ता के भाव से, अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार से, दूसरों के स्वार्थों का तिरस्कार करके केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर्म करते हैं, उनके कर्म बुरे होते हैं (देखो गीता अध्याय ४ श्लोक १८ से २४)। सब की एकता के ज्ञानयुक्त अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म यदि हिंसात्मक और क्रूर भी हों, तो भी बुरे नहीं होते (देखो गीता अध्याय १८ श्लोक १७) और पृथक्ता के भाव से केवल व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए किये जानेवाले कर्म यदि अहिंसात्मक और सौम्य भी हों, तो भी वे वास्तव में अच्छे नहीं होते।

गोपाल—प्रेम, सत्य, अहिंसा, क्षमा, सरलता, दया आदि सदाचारों को गीता में अनेक स्थलों पर श्रेष्ठ गुण कहा है; और काम, क्रोध, लोभ, अभिमान, क्रूरता, शोक, भय आदि दुराचारों को दुर्गुण और त्यागने योग्य कहा है। इसका क्या यह मतलब नहीं है कि ये सदाचार सदा ही अच्छे और दुराचार सदा ही बुरे होते हैं?

पिता—मैंने पहिले ही कह दिया है कि अच्छापन और बुरापन कर्ता के भाव से उत्पन्न होता है। प्रेम, सत्य, अहिंसा आदि श्रेष्ठ गुणों के आचरण भी सब की एकता के ज्ञानयुक्त सब के हित के लिए किये जाँय, तभी वे सदाचार होते हैं। यदि ये ही आचरण पृथक्ता के भावों से, व्यक्तित्व के अहङ्कार से और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए किये जाँय, तो ये दुराचार में परिणत हो जाते हैं। इसीलिए गीता में इन आचरणों के विधान के साथ ही साथ अहङ्कार और ममता के त्याग का विधान किया गया है, और साथ ही बुद्धि में समता रखने को कहा गया है, अर्थात् ये आचरण करने में बुद्धि को साम्य भाव में स्थित रखना चाहिये। यह बात अवश्य है कि प्रेम, सत्य,

अहिंसा आदि श्रेष्ठ गुणों के आचरणों से व्यक्तित्व के भाव में कमी होती है और एकता के भाव की वृद्धि होती है। इसीलिए इनकी सदाचार संज्ञा रक्खी गयी है। परन्तु इनके भी अपवाद होते हैं। अनेक अवसर ऐसे आते हैं, जब इन आचरणों से अनर्थ हो जाते हैं और कई अवसर ऐसे भी आते है, जब एक श्रेष्ठ गुण के आचरण करने में दूसरे श्रेष्ठ गुण की हानि होती है। जैसे कभी सत्य के लिए हिंसा करना आवश्यक हो जाता है; और कभी अहिंसा पालने के लिए झूठ बोलना और कपट करना आवश्यक हो जाता है। इसी तरह काम, क्रोध, लोभ आदि दुर्गुणों के आचरण से पृथकृता के भाव बढ़ते है, इसलिए साधारणतया ये दुराचार माने जाते हैं; परन्तु जब इन्हीं भावों का आचरण सब की एकता के ज्ञानयुक्त लोकहित के लिए किया जाता है, तब ये ही सदाचार में परिणत हो जाते हैं। अनेक अवसर ऐसे आते हैं, जब कि लोकहित के लिए इन भावों के आचरण की भी आवश्यकता होती है। संसार में निरर्थक पदार्थ कोई भी नहीं है। सबकी अपने-अपने स्थान में आवश्यकता होती है। प्रत्येक पदार्थ का सदुपयोग करने से वह अच्छा होता है, किन्तु दुरुपयोग करने से वही बुरा हो जाता है। सदुपयोग करने से विष भी अमृत का काम देता है और दुरुपयोग करने से अमृत भी जहर हो जाता है।

गोपाल—पिता जी ! आपने कर्मों के अच्छे-बुरेपन की और सदाचार-दुराचार के विषय की जो यह संक्षिप्त व्याख्या की है, वह तो गीता की किसी भी टीका में दीखने में नहीं आयी।

पिता—तुमने लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक कृत "गीता-रहस्य और कर्मयोग-शास्त्र" नहीं देखा होगा। यदि उसे देखते तो इस विषय का विवेचन अच्छी तरह ध्यान में आजाता; और उससे भी अधिक विस्तृत और सरल विवेचन श्री रामगोपाल मोहता लिखित "गीता का व्यवहार-दर्शन" ग्रन्थ में किया गया है, जो हाल ही

में प्रकाशित हुआ है। जो जो बातें मैंने गीता के सम्बन्ध में तुमको कही हैं, उन सबको तुम उसमें विस्तार से पाओगे।

पाठ ४०

अन्तरात्मा की आवाज़

गोपाल—बहुत से विद्वानों का मत है कि "अन्तरात्मा" की जो आवाज़ आवे, उसके अनुसार ही काम करना चाहिये। "अन्तरात्मा" की जो आवाज़ निकलती है, वह सर्वथा ठीक होती है।

पिता—"अन्तरात्मा की आवाज़" का सिद्धान्त अव्यावहारिक और धोखे में डालनेवाली भावुकता है। प्रथम तो उस "अन्तरात्मा" के स्वरूप का ही कोई निश्चय नहीं, कि वह क्या है। क्या उसके मुख अथवा ज़बान होती है कि जिससे वह लोगों को उनकी अलग-अलग भाषाओं में आवाज़ सुनाता रहता है?

गोपाल—अन्तरात्मा को अँगरेज़ी में Conscience कहते हैं।

पिता—अच्छा! तो उसे अन्तःकरण समझना चाहिये और "अन्तरात्मा की आवाज़" अन्तःकरण की प्रेरणा अथवा सङ्कल्प-रूप होगी। अन्तःकरण सबके अलग-अलग होते हैं और उनकी प्रेरणाएँ भी अलग-अलग होती हैं; और बहुत सी प्रेरणाएँ एक-दूसरे के खिलाफ़ भी होती हैं। फिर किसके "अन्तरात्मा की आवाज़" को ठीक समझी जाय और किसकी ग़लत?

गोपाल—जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो, उसीकी "अन्तरात्मा की आवाज़" ठीक होती है। अशुद्ध अन्तःकरण वाले की आवाज़ ठीक नहीं हो सकती।

पिता—यह कैसे निश्चय हो कि अमुक व्यक्ति का अन्तःकरण शुद्ध है और अमुक का अशुद्ध है? जो लोग आपस में लड़ते-झगड़ते हैं, वे दोनों पक्ष वाले प्रायः कहते हैं कि हमारा Conscience Clear यानी अन्तःकरण शुद्ध है। मज़हबी दीवाने लोग मज़हब के लिए एक

दूसरे की हत्या तक कर देते हैं और अपना Conscience Clear यानी अन्तःकरण शुद्ध मानते हैं और वास्तव में उनका मजहबी भाव बहुत बढ़ा हुआ होता है। धर्म (मजहब) और सभ्यता Civilisation के प्रचार के लिए अगणित लोगों की हत्याएँ होती हैं और लोगों को अपार कष्ट दिये जाते हैं, फिर भी ऐसा करनेवाले अपना Conscience Clear यानी अन्तःकरण शुद्ध ही समझते हैं और अपना उद्देश्य लोगों की भलाई करने का ही बतलाते हैं। लेनिन, मुसोलिनी और हिटलर आदि के करोड़ों अनुयायी उनको ईश्वर के तुल्य उद्धारकर्ता मानते हैं, और दूसरी तरफ़ करोड़ों लोग, जो उनके विरोधी हैं, उन्हें बड़े जालिम और दुष्ट बतलाते हैं। बताओ! इनमें से किसका अन्तःकरण शुद्ध है और किसका अशुद्ध, किस के "अन्तरात्मा की आवाज़" ठीक है और किसकी ग़लत ? इसके अतिरिक्त एक ही मनुष्य की "अन्तरात्मा की आवाज़" कभी एक तरह की आयी बतायी जाती है और कभी दूसरी तरह की। अब कौन-सी आवाज़ पर भरोसा किया जाय ? इसलिए "अन्तरात्मा की आवाज़" का सिद्धान्त धोखे की टट्टी है। जिसकी जैसी बुद्धि होती है उसके अन्तःकरण में वैसे ही सङ्कल्प उत्पन्न होते हैं और अपनी भावुकता के कारण वह उसे अन्तरात्मा अथवा ईश्वर की आवाज़ मान लेता है। इससे कई अवसरों पर बड़ा धोखा होता है। वास्तव में जिसके अन्तःकरण में जितना ही दूसरों से पृथक् व्यक्तित्व का भाव बढ़ा हुआ होता है, उतने ही उसके सङ्कल्प अथवा प्रेरणाएँ अनर्थकारी होती हैं; और जितना ही एकता का भाव बढ़ा हुआ होता है उतने ही उसके सङ्कल्प अच्छे होते हैं। इसलिए सब से उत्तम सिद्धान्त यही है कि बुद्धि को सब की एकता के साम्यभाव में जोड़कर, उस साम्य-बुद्धि से संसार का व्यवहार करना चाहिये।

पाठ ४१

दैवी-आसुरी सम्पत्ति

देव और असुर कौन हैं ?

गोपाल—पिता जी! १६वें अध्याय में दैवी और आसुरी सम्पत्तियों का जो वर्णन है, वे देव और असुर कौन हैं ?

पिता—बेटा ! देवों और असुरों के कोई अलग लोक नहीं हैं, न उनकी कोई अलग जाति ही होती है; और न वे साधारण मनुष्यों से विलक्षण रूपों वाले होते हैं। इसी मनुष्य-समाज में हम लोगों में से ही कई देव और कई असुर होते हैं। दैवी सम्पत्ति के गुण जिनमें अधिक होते हैं, वे देव हैं; और आसुरी सम्पत्ति के गुण जिनमें अधिक होते हैं, वे असुर हैं।

गोपाल—राक्षस कौन होते हैं ?

पिता—हम लोगों में से ही जो अत्यन्त उग्र आसुरी प्रकृति के लोग हैं, वे राक्षस हैं।

गोपाल—पिता जी ! यह आप क्या कहते हैं ? क्या हम लोग ही राक्षस और असुर हैं ? हम तो बड़े आस्तिक और धर्मात्मा हैं।

पिता—बेटा ! कहनेको तो हम लोग बड़े आस्तिक और धर्मात्मा हैं, परन्तु वास्तव में हम ऐसे नहीं हैं। यदि हम लोग आस्तिक और धर्मात्मा होते और ईश्वर तथा परलोक में विश्वास रखते, तो अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए दूसरों पर इतने अत्याचार नहीं करते। हम लोगों में से जो धर्म का व्यवसाय करनेवाले गुरु, पुरोहित, आचार्य, साधु, महन्त, पण्डे, पुजारी आदि धर्म के ठेकेदार हैं, वे प्रायः अपने यजमानों और शिष्यों को अज्ञानान्धकार में अपने आधीन रखते हुए पुरुषार्थ हीन तथा स्वतन्त्र विचार करने के अयोग्य बनाकर उनसे कितना धन ऐंठते हैं, किस तरह अपनी सेवाएँ करवाते हैं, और मृत्यु आदि शोक

के अवसरों पर भी कितनी निर्दयता से लोगों से अपने धर्म का टैक्स वसूल करते हैं ? क्या ईश्वर को मानते, तो वे इस तरह अत्याचार कर सकते ? वे लोग जनता को यह चकमा दिखाकर दान लेते हैं कि परलोक में उससे कई गुना अधिक उनको पीछे मिल जायगा। यदि वे खुद परलोक में विश्वास रखते तो इतना क़र्ज़ा परलोक में अदा करने के लिए अपने सिर पर यहाँ कभी नहीं उठाते। जो राज्य-शासन के ठेकेदार हैं, उनमें से अधिकांश लोग अपनी निरंकुश राज-सत्ता के कारण लोगों पर कितना जुल्म करते हैं; और जो धन के ठेकेदार हैं वे अपने धन के जोर से लोगों को कितना सताते और दबाते हैं ? इसी तरह जो समाज के ठेकेदार पंच लोग हैं, वे अपने अपने समाज के जाति भाइयों पर कितना आतङ्क जमाये रखते हैं और सामाजिक बन्धनों में बाँधकर शादी तथा गमी के अवसरों पर लोगों को कितना तङ्ग करते हैं ? यदि ये लोग ईश्वर तथा धर्म को मानते और परलोक में विश्वास रखते तो इतने अत्याचार कभी नहीं करते। हम साधारण लोग भी अपनी ही स्त्रियों को इतना पद-दलित रखते हैं कि उन्हें मनुष्यता के सारे ही अधिकारों से वञ्चित और पशु-पक्षियों से भी गयी गुजरी स्थिति में रखते हैं। अछूत माने जानेवाले ग़रीब भाइयों के साथ भी इतना घृणित बर्ताव करते हैं कि उनको छूना भी पाप समझते हैं; और उनको इतना दबाये रखते हैं कि वे मानों मनुष्य ही नहीं। यह सब आसुरीपन नहीं तो क्या है ?

गोपाल—पिता जी ! आपका कहना ठीक है। वर्तमान समय में हम लोगों के आचरण वास्तव में राक्षसों और असुरों के जैसे ही हो रहे हैं। इसी से हमारी इतनी दुर्गति हो गयी है। अब मुझे यह निश्चय होगया कि गीता के विषय में जो मेरे विचार थे, वे बिलकुल ग़लत थे। वास्तव में गीता के अर्थ को यथार्थ रूप से समझकर उसके अनुसार आचरण करने से ही मनुष्य सच्चा मनुष्य हो सकता है और तभी वह सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त कर सकता है।

पाठ ४२

काम करने में सफलता कैसे प्राप्त हो ?

गोपाल—अब, पिता जी ! मुझे यह बताइये कि गीता के अनुसार मनुष्य पूर्ण कार्य-कुशल कैसे हो सकता है ?

पिता—देखो, गोपाल ! जो मनुष्य (स्त्री-पुरुष) सबकी एकता के सात्विक ज्ञानयुक्त (गीता अध्याय १८ श्लोक २०), यथार्थ निर्णय करने वाली सात्विक बुद्धि (गीता अध्याय १८ श्लोक ३०) और सभी व्यवहार यथायोग्य साम्य-भाव से धारण करनेवाली सात्विक धृति से (गीता अध्याय १८ श्लोक ३३), अपने-अपने शरीर की योग्यता के कर्तव्य-कर्म, धैर्य, उत्साह, तत्परता, फुरती और चतुराई के साथ अच्छी तरह मन लगाकर, प्रसन्नता और विचारपूर्वक व्यवस्थित रूप से करता है; और कार्य आरम्भ करने के पहिले इन बातों पर अच्छी तरह विचार कर लेता है कि इस कार्य के सम्पादन करने में कितना परिश्रम होगा, कितने द्रव्य का व्यय होगा, कितना कष्ट होगा, मुझमें इतनी शक्ति तथा योग्यता है कि नहीं; जो अपने कामों से अपने व्यक्तिगत स्वार्थ साधन के लिए दूसरों को हानि नहीं करता तथा दूसरों को पीड़ा नहीं देता; किसी विशेष कार्य-पद्धति ही में अत्यन्त आसक्ति नहीं रखता, किन्तु परिस्थिति के अनुसार उसमें फेरफार करता रहता है; अपनी बुद्धिमत्ता तथा होशियारी के घमण्ड में ऐंठा नहीं रहता, दूसरों की सम्मतियों का भी यथायोग्य आदर करता है; कार्य की सफलता में फूलकर कुप्पा नहीं हो जाता और असफलता में हताश नहीं होता, वह पूरी तरह कार्य-कुशल होता है। कार्य-कुशल पुरुष ही वास्तव में सुखी हो सकते हैं। इसके विपरीत रीति से कार्य करनेवाले सुखी नहीं हो सकते।

पाठ ४३

सच्चा सुख क्या है ?

गोपाल—तो फिर, पिता जी ! सच्चे सुख का क्या स्वरूप है ?

पिता—शरीर की तीन अवस्थाएँ हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। आधिभौतिक अवस्था स्थूल शरीर की जाग्रत अवस्था है; आधिदैविक अवस्था मानसिक सङ्कल्पों की स्वप्न अवस्था है; और आध्यात्मिक अवस्था इन दोनों से परे सुषुप्ति अवस्था है, जिसमें कुछ काल के लिए जाग्रत और स्वप्न के सङ्कल्प मिट जाते हैं। इन तीनों अवस्थाओं के अलग अलग प्रकार के सुख होते हैं। जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर के भौतिक सुख होते हैं; स्वप्न अवस्था में मानसिक सूक्ष्म सुख होता है; और सुषुप्ति अवस्था में जाग्रत और स्वप्न के भेद मिटने का अवर्णनीय सुख होता है। लेकिन ये तीनों सुख सच्चे नहीं हैं, क्योंकि वे स्थायी नहीं रहते और इनके पहिले तथा पीछे दुःख होता है। सच्चा सुख वह है, जो तीनों ही अवस्थाओं में एकसा बना रहे और वह सुख आत्म-ज्ञान से होता है; अर्थात् सबकी एकता की साम्य-बुद्धि से ही सच्चा सुख होता है। जब तक बुद्धि में सबकी एकता का साम्य-भाव नहीं होता, तब तक शरीर के भोग-विलास के भौतिक सुख चाहे कितने ही हों, मन के विनोद के चाहे कितने ही साधन हों, और चाहे मनुष्य सबसे अलग होकर एकान्त में रहे अथवा सदा नींद लेता रहे, सच्चा सुख नहीं होता। इन तीनों प्रकार के सुखों के साथ ही साथ इनकी प्रतिक्रिया-रूप दुःख लगे ही रहते हैं। इसीलिए गीता में आधिभौतिकता, आधि-दैविकता और आध्यात्मिकता तीनों को स्थान देकर फिर तीनों की एकता कर दी गयी है (देखो गीता अध्याय ८ श्लोक ३-४)। न कोरी आधिभौतिकता में सुख है, न कोरी आधिदैविकता में और न कोरी आध्यात्मिकता में। इनको अलग-अलग रखने से तीनों ही से पतन होता है। गीता ने इन तीनों

का सामञ्जस्य करके तीनों प्रकार की उन्नति साथ-साथ करने का उपदेश दिया है। इस त्रिविध उन्नति के उपदेश को ज्ञान-विज्ञान नाम दिया है, जिसका तात्पर्य आधिभौतिक और आधिदैविक विज्ञान के साथ-साथ आध्यात्मिक ज्ञान होता है।

गोपाल—सुख की यह व्यवस्था तो खास शरीर की हुई। इससे सारे समाज अथवा जगत् के सुख की व्यवस्था कैसे होगी?

पिता—जो व्यवस्था प्रत्येक शरीर की है, वही सारे समाज और जगत् की है। शरीरों से ही समाज और जगत् बनता है। प्रत्येक शरीर जिसे व्यष्टि कहते हैं, वह सारे समाज तथा जगत् के लिए है; और सारा समाज एवं जगत् जिसे समष्टि कहते हैं, वह प्रत्येक शरीर अथवा व्यष्टि के लिए है। व्यष्टि और समष्टि में वास्तव में कोई भेद नहीं है। जिस तरह प्रत्येक शरीर की तीन अवस्थाएँ हैं, उसी तरह जगत् की भी आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तीन अवस्थाएँ हैं, और तीनों प्रकार की उन्नति साथ-साथ होने ही से समाज तथा जगत् में सुख-शान्ति हो सकती है।

पाठ ४४

सुख और हित का भेद

गोपाल—बहुत से विद्वानों का मत है कि सब लोग तो सुखी हो ही नहीं सकते, इसलिए "अधिक लोगों का अधिक सुख" ही सब से उत्तम और व्यवहार में आने लायक सिद्धान्त है।

पिता—"अधिक लोगों के अधिक सुख" का सिद्धान्त दोषपूर्ण है। प्रथम तो अधिक लोगों का और उनके अधिक सुख का निर्णय होना ही असम्भव है। सब देशों के सब लोगों की गणना करके किस को किस बात में कितना सुख है, इसका पता लगाना असम्भव है। सुख का कोई माप, तोल अथवा मात्रा नहीं है। अनुकूलता सुख और प्रतिकूलता दुःख माना जाता है। किसी को किसी समय किसी

विषय में अनुकूलता प्रतीत होती है, दूसरे को उसी में प्रतिकूलता प्रतीत होती है। कोई थोड़े ही सुख को बहुत मानता है और कोई बहुत सुख को तुच्छ मानता है। जो वर्तमान में सुख होता है वह भविष्य में लोगों के लिए दुःख हो सकता है। इसलिए यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। गीता ने इसीलिए उसको नहीं मानकर "सर्वभूतहित" अर्थात् सबके हित का सिद्धान्त माना है। जो आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक सुखों का वर्णन पहिले किया है, उनके पहिले और परिणाम में दुःख होता है। वर्तमान में भी एक-दूसरे की बढ़ा-चढ़ी की जलन रहती है, परन्तु सबके हित में यह दोष नहीं है। हित तो सदा-सर्वदा सुखदायक होता है, परन्तु सुख सदा-सर्वदा हितकारक नहीं होता। ("गीता का व्यवहार-दर्शन" में पाँचवे अध्याय का स्पष्टीकरण देखिये।)

पाठ ४५

आत्मौपम्य बुद्धि

गोपाल—सब भूतों के हित में लगे रहना कैसे बन सकता है ?

पिता—आत्मौपम्य बुद्धि से सबके साथ पहिले कहे अनुसार समता का बर्ताव करने से सबका हित होता है। किसी भी प्राणी से बर्ताव करते समय उसके साथ अपनी एकता का ज्ञान रखते हुए अपने आपको उसकी स्थिति में रखना चाहिये। फिर उसके हानि-लाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान आदि की वेदनाओं का अनुमान करते हुए यह विचारना कि यदि मैं इसकी स्थिति में होता और मेरे साथ इस तरह का बर्ताव किया जाता, तो मुझे वह कैसा लगता ? उस बर्ताव का वर्तमान में और भविष्य में मुझ पर क्या प्रभाव पड़ता। इस तरह आत्मौपम्य-बुद्धि द्वारा विचारपूर्वक सब के साथ समता का बर्ताव करने से किसी का अहित नहीं होता, किन्तु हित ही होता है, जिसका कोई बुरा परिणाम नहीं होता।

पाठ ४६

गीता की श्रेष्ठता

गोपाल—संसार में व्यवहार करने का इससे उत्तम मार्ग दूसरा नहीं हो सकता।

पिता—तभी तो गीता का पद सब शास्त्रों और धर्म-ग्रन्थों से ऊँचा माना गया है। जहाँ दूसरी संस्कृतियाँ और दूसरे मत ईश्वर को पिता अथवा स्वामी बताते हैं, और जीवों को पुत्र अथवा दास बताते हैं, तथा सब जीवों को आपस में भाई-भाई बताकर प्रेम करने को कहते हैं, वहाँ गीता कहती है कि सब कुछ तुम्हारा ही स्वरूप है। सब को अपने से अभिन्न, अपने ही शरीर के अनेक अङ्गों की तरह समझ कर सबके साथ एकता के प्रेमयुक्त साम्यभाव का वर्ताव करो। पिता पुत्र में अथवा स्वामी-सेवक में अथवा भाई-भाई में तो वैमनस्य अथवा द्वेष भी हो जाया करते हैं, परन्तु अपने आपके साथ कभी द्वेष नहीं होता। इस सिद्धान्त से उत्तम तो क्या इसके बराबरी का सिद्धान्त भी दूसरा नहीं हो सकता। किसी भी संस्कृति अथवा मत की यह कहने की हिम्मत नहीं है कि "सब कुछ तुम्हारा ही स्वरूप है।" यह गीता अथवा वेदान्त का ही साहस है कि वह डङ्के की चोट कहता है कि सबको अपने में और अपने को सबमें अनुभव करो (देखो गीता अध्याय ६ श्लोक २९)। इसीलिए इसको सार्वजनिक राजविद्या कहा है, जिसपर किसी भी प्रकार के भेद बिना सबको एक समान अधिकार है और वह सबके लिए एक समान उपयोगी और हितकर है। साथ ही यह विद्या बहुत ही आसान है, क्योंकि इसके आचरण करने में न तो धन अथवा शक्ति खर्च करके किसी प्रकार के आडम्बर करने की आवश्यकता रहती है, और न किसी दूसरे की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है। यह विद्या तुरन्त फल देने वाली है, क्योंकि मनुष्य जिस समय सबकी एकता के भाव से आचरण करने लगता है, उसी

समय वह सुखी और उन्नत होने लगता है। अनेकता के आचरणों ही से दुःख और गिरावट होती है। दूसरे जितने भी धार्मिक कृत्य हैं, उनका फल पीछे अथवा मरने के बाद बताया जाता है, परन्तु यह तो नक़द सौदा है। इसके सिवाय इसमें एक और विशेषता यह है कि इसका थोड़ा भी आचरण कभी निरर्थक नहीं जाता। जहाँ दूसरे धार्मिक कृत्यों की पूर्णता होने पर ही उसका फल बताया जाता है, वहाँ इस मार्ग में जितने लोगों के साथ जितने दर्जे की एकता का वर्ताव किया जाता है, उतना ही सुख और उन्नति उसी समय प्राप्त हो जाती है और इस रास्ते में लगा हुआ मनुष्य आगे बढ़ता रहता है (देखो गीता अध्याय ९ श्लोक १)। यदि इसमें लगे हुए मनुष्य का शरीर पूर्णता प्राप्त किये बिना ही छूट जाय, तो वह अपने इस जन्म के संस्कारों के प्रभाव से दूसरे जन्म में ऐसे घर में जन्म लेता है, जहाँ उसको इसमें आगे बढ़ने की सब सुविधाएँ रहती हैं। वहाँ वह उन्नति करता रहता है और समय पाकर पूर्णता प्राप्त कर लेता है। (देखो गीता अध्याय ६ श्लोक ४० से ४५ तक)।

पाठ ४७

गीता के समत्व-योग और पश्चिमी साम्यवाद की तुलना

गोपाल—पिताजी! वर्तमान में पश्चिमी देशों में जिस साम्यवाद का प्रचार होरहा है, उसमें और गीता के समत्व-योग में क्या फ़र्क़ है?

पिता—बेटा! वह आर्थिक साम्यवाद है, यानी पश्चिमी साम्यवादी सबके शरीरों को एक बराबर समझकर सबके भौतिक अधिकार और भौतिक सुख एक समान करना चाहते हैं। सो हो नहीं सकता। इस त्रिगुणात्मक जगत् में गुणों की विचित्रता के अनुसार शरीरों की योग्यता भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है और अलग-अलग योग्यता के अनुसार अलग-अलग भौतिक अधिकार और भिन्न-भिन्न प्रकार के भोग-विलास ही उपयुक्त होते हैं। इसके सिवाय मनुष्यों के कर्मों के

अनुसार ही उनके अधिकार और भोग-विलास प्राप्त होने का सिद्धान्त भी अटल है। गीता सबकी वास्तविक एकता को सच्ची और गुण-वैचित्र्य की अनेकता को कल्पित बताकर, गुणों के अनुसार कार्य-अधिकार और भोग आदि की व्यवस्था करती है। इसलिए गीता के समत्व-योग की नींव पक्की है। वह सबके लिए हितकर और सदा अटल रहनेवाली है। आर्थिक साम्यवाद सबकी वास्तविक एकता को महत्त्व नहीं देता। वह भौतिक समानता अथवा बराबरी को महत्व देता है। इसलिए उससे लोगों का हित नहीं हो सकता और वह लम्बे समय तक टिक भी नहीं सकता।

पाठ ४८

पात्र के बिना गीता का उपदेश क्यों नहीं देना चाहिये ?

गोपाल—जब गीता सार्वजनिक शास्त्र है, तो १८ वें अध्याय के ६७वें श्लोक में भगवान् ने यह क्यों कहा कि तप नहीं करनेवाले को, भक्ति नहीं करनेवाले को, सुनने की इच्छा नहीं रखनेवाले को और मेरी निन्दा करनेवाले को यह उपदेश मत देना। क्या इससे बहुत सङ्कीर्णता और अपनी कमजोरी प्रगट नहीं होती ?

पिता—१७ वें अध्याय में तीन प्रकार के सात्विक तप के नाम से जिस शिष्टाचार का वर्णन हुआ है, उससे जो मनुष्य रहित और बिलकुल उजड्ड है; और जिस की इस विषय में श्रद्धा ही न हो; और जिसको सुनने की जिज्ञासा भी न हो; और जो भगवान् श्रीकृष्ण के महत्व को न जानकर उनकी निन्दा करता हो, उसको यह उपदेश सुनाना निरर्थक ही नहीं, किन्तु उलटा हानिकारक हो सकता है; क्योंकि वह इसका उलटा अर्थ लगाकर अनर्थ कर बैठता है। इस लिये ऐसे लोगों को यह उपदेश सुनाना मना किया गया है। इसमें कोई संकीर्णता अथवा कमजोरी की बात नहीं। इस दिव्य उपदेश को सुनाने के पहिले मनुष्य को शिष्टाचार को शिक्षा देकर

श्रद्धा और जिज्ञासा उत्पन्न करा कर तथा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के प्रति आदर उत्पन्न करके पात्रता पैदा करनी चाहिये । बस, यही अभिप्राय है ।

पाठ ४६

क्या गीता राजनैतिक चालबाज़ी है ?

गोपाल—आपका कहना बिल्कुल ठीक है । जिन लोगों में यह पात्रता नहीं है, वे लोग भगवान् श्रीकृष्ण को एक बड़ा ही चालबाज़ कुटिल राजनीतिज्ञ कहते हैं, और गीता के उपदेश को कौरव-पाण्डवों को लड़ाकर लोगों को दबाने के लिए एक भारी चालबाज़ी बताते हैं ।

पिता—मनुष्य की जैसी अपनी मनोवृत्ति होती है, उसी के अनुसार वह दूसरों को देखता है । महापुरुषों पर भी लोग अपने तुच्छ व्यक्तित्व का भाव आरोप कर उन्हें अपने जैसे ही स्वार्थी व्यक्ति मानते हैं । वर्तमान समय में जिन लोगों का मन कुटिल राजनीति के दाव-पेचों से प्रभावित हो रहा है और जो लोग जिस किसी प्रकार से दूसरों को दबाकर या धोखा देकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना ही सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता समझते हैं, वे भगवान् श्रीकृष्ण को भी एक बहुत बड़ा कुटिल राजनीतिज्ञ और चालबाज़ आदमी बताते हैं; और जो लोग स्वयं विषयों में आसक्त होते हैं, वे श्रीकृष्ण को बड़ा विषय-लम्पट मानते हैं । उन लोगों की राजसी तामसी बुद्धि भगवान् श्रीकृष्ण के सर्वात्मभाव के रहस्य को समझ नहीं सकती । सबकी एकता का अनुभव करनेवाले आत्मज्ञानी महापुरुष, जो सर्व भूत-प्राणियों के हित के लिए साम्यभाव के आचरण करते हैं, वे उन अज्ञानी लोगों को भौतिक दृष्टि में बुरे प्रतीत होते हैं । निशाचरों को दिन में भी अन्धकार प्रतीत होता है । यह उनकी दृष्टि का दोष है (देखो गीता अध्याय २ श्लोक ६६) । भगवान् श्रीकृष्ण ने लोक-हित के लिए बहुत से अत्याचारी राजाओं को मारा, परन्तु उन सबका राज्य उनके उत्तरा-

धिकारियों को अथवा जो नीतिपूर्वक हक़दार थे उनको दे दिया—आप किसी भी राज्य के राजा नहीं हुए। यदि वे कुटिल राजनीतिज्ञ चालबाज होते तो क्या ऐसा करते ? कभी नहीं ! वर्तमान के स्वार्थी लोगों की तरह आप ही सम्राट् बन बैठते। परन्तु वे तो परिपूर्ण थे। राज्य-सत्ता उनके सामने कुछ भी महत्व नहीं रखती थी। व्रज में गोपियों के साथ क्रीड़ा करने के जो वर्णन हैं, वहाँ यह भी कहा गया है कि वे अपनी माया से अनेक कृष्ण और अनेक गोपियों के रूप में एक ही साथ प्रकट हो जाया करते थे। सोलह हज़ार एक सौ आठ रानियों के महल में एक ही साथ रहा करते थे। अब ज़रा विचारो कि जिसमें इतनी अलौकिक शक्ति हो, उसे किसी के राज्य की तथा तुच्छ विषय-भोगों की इच्छा ही कैसे हो सकती है ?

गोपाल—अनेक रूप धारण करने की बातों को तो वे लोग झूठे गपोड़े बताते हैं।

पिता—वे लोग भगवान् के उन कामों को तो सच्चा मानते हैं, जो उनकी अक़्ल में आते हैं और जो उनकी छोटी सी अक़्ल में नहीं आ सकते उन्हें झूठा मानते हैं। इसी से तो मैं कहता हूँ कि जिनकी जैसी मनोवृत्ति होती है, उसीके अनुसार वे दूसरों के कामों की आलोचना करते हैं। जिसकी आँखों पर जैसा चश्मा चढ़ा होता है, उसे संसार उसी रङ्ग का दीखता है। चींटी अगर संगमरमर के राजमहल में जाती है, तो वहाँ भी सुराख़ ही तलाश करती है। इसी तरह दूषित मनोवृत्ति के लोग गीता जैसे अमृत के समुद्र में से भी कूट-नीति की चालबाज़ियों के विष ही की तलाश करते हैं। वास्तव में भगवान् श्रीकृष्ण जो अपने को सब भूतों में एक समान रहनेवाला बताते हैं और सब कुछ करते हुए भी अपने को अकर्ता कहते हैं (देखो गीता अध्याय ४ श्लोक ६ से १४ तक), उनके दिव्य जन्मों और दिव्य कर्मों का रहस्य दूषित भौतिक दृष्टि से समझा नहीं जा सकता। इस रहस्य को समझने के लिए शुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि की आवश्यकता

है। अच्छाई और बुराई सापेक्ष्य द्वन्द है। जब भगवान् सारे विश्व को अपने अन्दर दिखाते हैं, तो संसार की सारी अच्छाइयों और बुराइयों का समावेश उनमें होकर वे दोनों मिट जाती हैं। उनमें न कोई अच्छाई है और न कोई बुराई। इसीलिए तो हम हिन्दू लोग भगवान् श्रीकृष्ण को पूर्ण कला का अवतार मानते हैं।

पाठ ५०

अवतारवाद

गोपाल—पिता जी! एक, स्वतन्त्र, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, अखण्ड, अनन्त और अपरिमित ईश्वर का किसी ख़ास व्यक्ति के रूप में अवतार कैसे हो सकता है?

पिता—बेटा! जब वह सर्वशक्तिमान है और यह सारा विश्व उसीके अनन्त रूपों का बनाव है, तो किसी समय किसी विशेष विभूति-सम्पन्न अथवा अनेक विभूतियों से सम्पन्न चमत्कारिक रूप धारण करने की भी शक्ति उसमें होती ही है; और जब उस ईश्वर को जगत् का निर्माता, सबका स्वामी, सबका नियन्ता और सबका रक्षक मान लिया, तो वह अपने रचे हुए जगत् को सुव्यवस्थित रखने के लिए किसी विशेष रूप में प्रकट हो, तो उसकी स्वतन्त्रता, सर्वव्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता में कौनसी कमी आती है?

गोपाल—जब वह किसी ख़ास व्यक्ति के रूप में अवतार ले ले, तो परिमित हो जायगा, फिर सर्वव्यापक कैसे रह सकेगा?

पिता—जब हम यह कहते हैं परमात्मा सर्वव्यापक है और सब व्यक्ति उसी के अनन्त रूप हैं, तो यह शङ्का ठहर ही कैसे सकती है कि किसी विशेष विभूति-सम्पन्न चमत्कारिक रूप में उसका विशेष प्रदर्शन होने से वह परिमित हो जायगा। जिन लोगों को यह आशङ्का है कि किसी विशेष चमत्कारिक रूप में प्रकट होने से ईश्वर उसी रूप में परिमित हो जायगा, वे उसके सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान होने के

तथ्य का तिरस्कार करते हैं। संसार में समय-समय पर विशेष चमत्कारिक व्यक्ति और शक्तियाँ प्रकट हुआ करती हैं, वे सब उस एक परमात्मा ही के रूप अथवा अवतार होते हैं। जो लोग ईश्वर को किसी खास स्थान में रहनेवाला और ख़ास गुणों से युक्त, कोई ख़ास व्यक्ति मानते हैं, उनका ईश्वर भले ही अवतार धारण न कर सके और अपने स्थान में बैठा हुआ जगत् की सुव्यवस्था के लिए अपने पैगम्बरों अथवा सन्तानों आदि को भेजकर निश्चिन्त हो जाय; परन्तु हिन्दुओं का ईश्वर तो सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सब कुछ करने-करानेवाला है। इसलिए वह चाहे जिस रूप में प्रकट हो सकता है और फिर भी उसकी सर्वव्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता में रत्ती भर भी त्रुटि नहीं आती।

पाठ ५१

क्या महाभारत और गीता कोरी कल्पना है ?

गोपाल—पिता जी! कई लोगों का कहना है कि महाभारत युद्ध कोई ऐतिहासिक घटना नहीं है और न श्रीकृष्ण तथा अर्जुन ही कोई ऐतिहासिक पुरुष हैं। किसी बुद्धिमान पुरुष ने दैवी और आसुरी वृत्तियों के संघर्ष को भारतीय युद्ध का रूपक देकर आसुरी वृत्तियों पर विजय प्राप्त करने के लिए गीता के उपदेश की कल्पना की है।

पिता—गोपाल! ऐसा कहनेवालों के पास कोई प्रमाण नहीं है। यह केवल उनकी अटकल है। महाभारत युद्ध तथा श्रीकृष्ण और अर्जुन के होने का प्रमाण तो स्वयं गीता ही है, जिसकी कि वे लोग ख़ुद इतनी मान्यता करते हैं और जिस गीता का महाभारतकार श्रीवेदव्यास जी ने भारतीय युद्ध के आरम्भ में भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन को कही जाना लिखा है, और बहुत से प्राचीन ग्रन्थों में इस विषय के प्रमाण भरे पड़े हैं। महाराज युधिष्ठिर का संवत् भी अब तक प्रचलित है। फिर भी यदि थोड़ी देर के लिए यही मान लिया जाय कि यह सब कल्पना है, तो वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार

सारा जगत् ही मन की कल्पना का खेल है। अतः उस दृष्टि से विचार करने पर जगत् के दूसरे अनन्त बनावों की तरह ही महाभारत युद्ध और गीता का उपदेश कल्पना की सृष्टि कह दें, तो कोई हानि नहीं है। हम सब लोग भी तो इस कल्पित जगत् में कल्पित व्यवहारों की कल्पना ही कर रहे हैं।

पाठ ५२

गीता में पहिले पीछे विरोधी वर्णन नहीं है

गोपाल—पिता जी! एक शङ्का शेष रह गयी है। भगवान् ने तीसरे अध्याय के ३५वें श्लोक में और १८वें अध्याय के ४७वें श्लोक में कहा है कि सबके अपने-अपने धर्म श्रेष्ठ हैं; और अन्त में १८ वें अध्याय के ६६ वें श्लोक में कहा है कि सब धर्मों को छोड़ कर तू एक मेरी शरण में आ। ये तो परस्पर विरोधी उपदेश हैं। इसका क्या कारण है?

पिता—देखो बेटा! गीता में पहिले कही हुई बातों से पीछे कही हुई का विरोध कहीं भी नहीं है; क्योंकि इसका मूल विषय एक ही समत्व-योग है। यानी सबकी एकता के ज्ञानयुक्त साम्यभाव से अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करना ही गीता का विषय है और उसी की पुष्टिके लिए तथा उसी के साधन रूप से अनेक विषयों का उल्लेख किया गया है। इसलिए किसी बात का आपस में विरोध नहीं हो सकता। जहाँ कहीं विरोध प्रतीत हो, वहाँ विचार-पूर्वक संगति मिला लेनी चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण के इस व्यवहारिक उपदेश में असम्बद्धता कभी नहीं हो सकती। यहाँ एक ही धर्म शब्द को लेकर जो विरोध प्रतीत होता है, सो वास्तव में ऐसा नहीं है। जो धर्म जिसका स्वाभाविक होता है, उसके लिए तो वही श्रेष्ठ होता है। वह कभी छूट नहीं सकता। जिस तरह आँखों का धर्म देखना, कानों का सुनना, नाक का सूँघना, हाथों का काम करना, पैरों का चलना,

बुद्धि का विचार करना, मन का सङ्कल्प करना और शरीर का धर्म भूख-प्यास आदि है; उसी तरह जिस जिस मनुष्य के अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार जो कर्तव्य-कर्म होते हैं, उनको भी धर्म ही कहते हैं। वे छूट नहीं सकते और वे उसके लिए श्रेष्ठ होते हैं। परन्तु जो धर्म ऊपर से लगे हुए अथवा माने हुए होते हैं, जिस तरह जाति-धर्म, कुल-धर्म, साम्प्रदायिक धर्म अथवा मजहब आदि —जो भेद और बन्धन उत्पन्न करते हैं और जो मनुष्य को स्वतन्त्र विचार करने के अयोग्य एवं मजहबी पशु बनाये रखते हैं, उन्हीं को छोड़ने को भगवान ने कहा है।

पाठ ५३

अन्तिम श्लोक का खुलासा

गोपाल—गीता के अन्तिम श्लोक में सञ्जय ने कहा है कि जहाँ कृष्ण और अर्जुन हैं, वहीं लक्ष्मी, विजय और :ति है। जब कि वर्तमान में कृष्ण और अर्जुन नहीं हैं, तो ये वर्तमान समय में नहीं रहनी चाहियें ?

पिता—उस श्लोक में कहा है कि जहाँ "योगेश्वर कृष्ण", अर्थात् सब की एकता के साम्यभाव की पूर्णता रूप कृष्ण हैं, और जहाँ "धनुर्धारी अर्जुन" अर्थात् युक्तिसहित शक्ति रूप अर्जुन है, वहाँ लक्ष्मी, विजय और नीति है। इसका यह तात्पर्य है कि जहाँ सबकी एकता का साम्यभाव है और विद्या, बुद्धि एवं बल है, वहीं लक्ष्मी, विजय और नीति होती है। जहाँ एकता नहीं है और विद्या, बुद्धि एवं बल नहीं है, वहाँ दरिद्रता, दासता, दीनता और मूर्खता का साम्राज्य रहता है, यह प्रत्यक्ष ही है।

॥ ॐ तत्सत् ॥